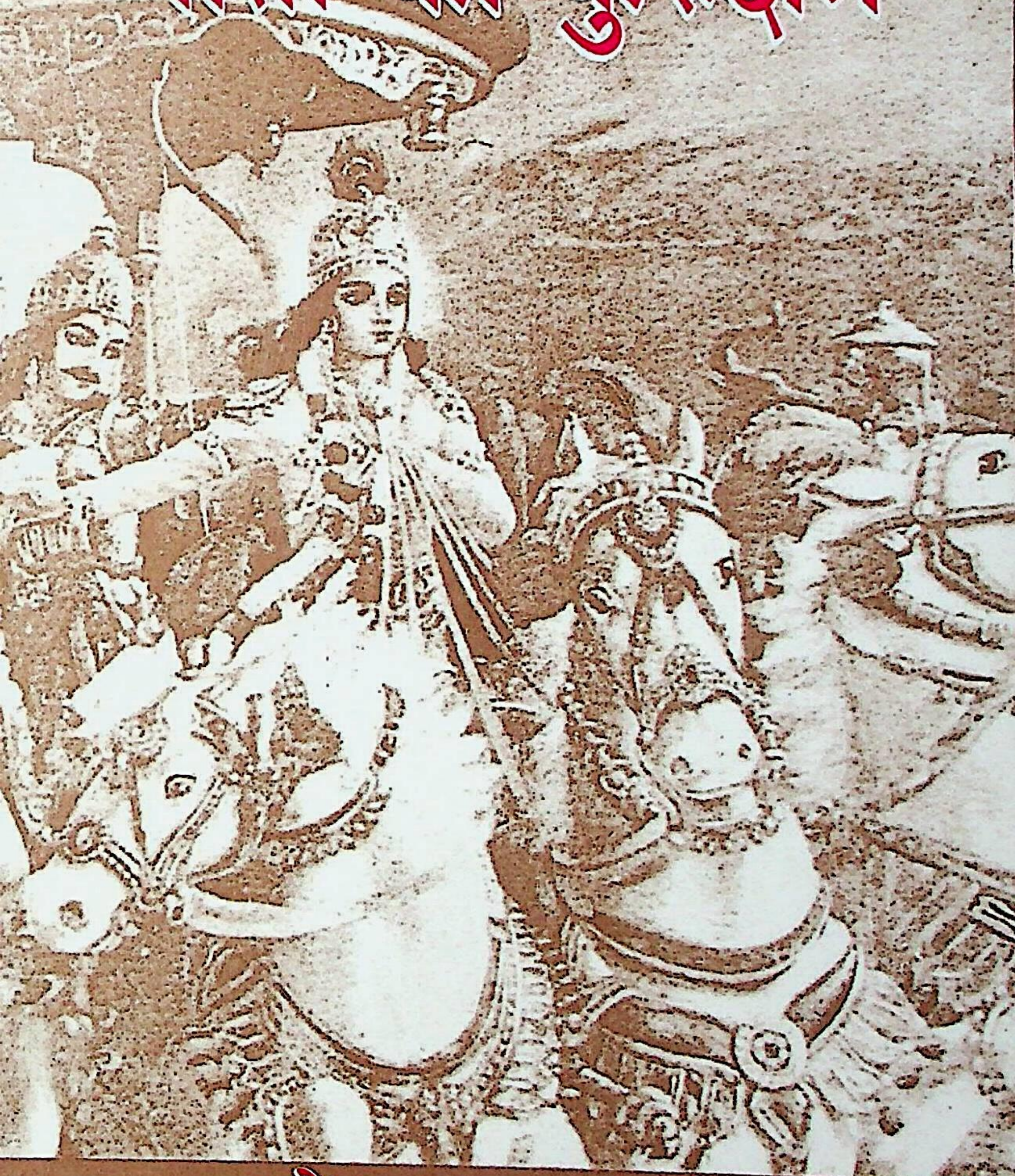
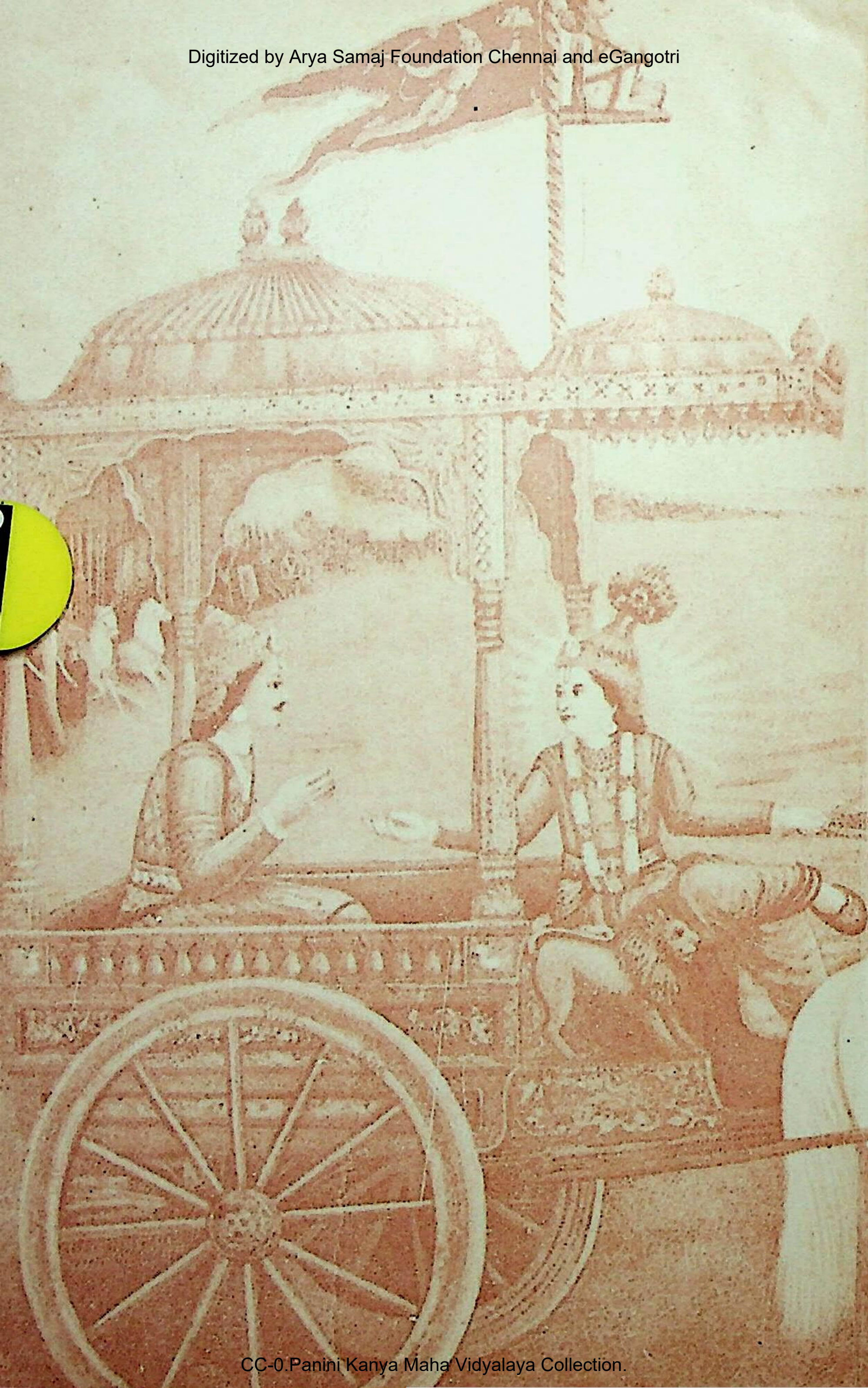
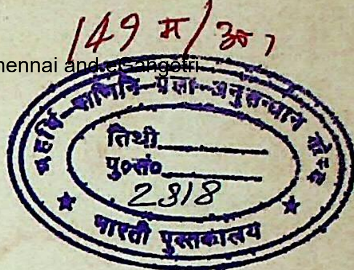
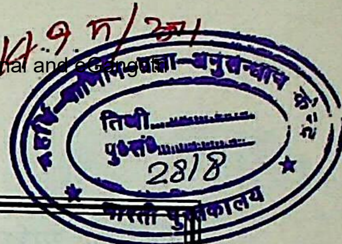
गीता का कुरुक्षेत्र



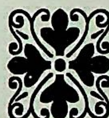
गोपाल लाल बर्मन




महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान योजना
तिथी
पु०सं० 2318
भारती पुस्तकालय



गीता का कुरुक्षेत्र



लेखक
गोपाल लाल बर्मन

लेखक—**गोपाल लाल बर्मन**

प्रस्तावना—**गौरीशंकर काबरा**

प्रकाशक

गोपाल लाल बर्मन

C/o पंचवटी कम्पनी

भेलूपुर, वाराणसी २२१०१०

वितरक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी

प्रथम संस्करण १९९९ : १००० प्रतियाँ

मूल्य : रु. ६०.००

रु. ७५.०० सजिल्द

मुद्रक

काबरा आफसेट्स

रवीन्द्रपुरी, वाराणसी



वेद बीज तो गीताफल

गीता पर मेरी अनन्य श्रद्धा है। उसे मैं वेद का सर्वोत्तम रूप मानता हूँ। उसमें वेद भगवान् भली भाँति, स्पष्ट प्रकट हुए हैं। सारा वेद-सार गीता में आ गया है। मेरी दृष्टि में गीता वेद का 'फल' है तो वेद गीता का बीज। बीज चबाया नहीं जाता। अगर उसे यों ही चबा-चबाकर खा जाँय तो भी रस न मिलेगा। बीज चबाने में कोई मिठास नहीं मालूम देती। वह तो फल चखने पर ही मालूम होगी फिर भी अगर कोई बीज चबाये, तो उसके साथ मेरा कोई विरोध नहीं।

श्री विनोबा

निष्काम-कर्मयोग की पृष्ठभूमि-
गीता की स्थितप्रज्ञता

छोड़कर जब मनके सब काम, मनुज होता है आत्माराम;
तुष्ट जो अपने ही में आप, वही है स्थितप्रज्ञ निष्पाप।
दुःखोंकी जिसे न हो परवाह, सुखों की करे न जो कुछ चाह;
रहे भय, राग, रोषसे दूर, वही है स्थितप्रज्ञ हे शूर!
कहीं जो करे न ममता-मोह, किसी से प्रेम न जिसको द्रोह;
अशुभ से रुष्ट न शुभ से तुष्ट, उसी की प्रज्ञा है परिपुष्ट।
समेटे अङ्ग कूर्म जैसे, खींच सब विषयों से वैसे;
इन्द्रियों का जो करे निरोध, उसी को होता है स्थिर बोध।
अनाहारी या अवश अभुक्त, रहे चाहे विषयों से मुक्त;
परात्पर-दर्शन बिना परंतु टूटते नहीं रोग-रस-तन्तु।
यत्नकारी बुध जनको भी, प्रमाथी इन्द्रियगण लोभी;
अचानक वश में करते हैं, हृदय हठ-पूर्वक हरते हैं।
उन्हें वश में कर साधन से योगयुत मत्पर हो मन से;
इन्द्रियाँ जिसके हुई अधीन, उसी की प्रज्ञा योगासीन।
विषय-सेवन से विषयासक्ति, और बढ़ती है अति अनुरक्ति;
उसी से काम, काम से क्रोध, प्रकट होता है बिना विरोध।
क्रोध से दारुण मोह-विकाश, उसी से होता है स्मृतिनाश,
जहाँ स्मृति-नाश वहीं मतिभ्रष्ट, हुई मतिभ्रष्ट कि फिर सब नष्ट।
किंतु वश कर इन्द्रियाँ अशेष, विधेयात्मा गतरागद्वेष,
भोगकर भी विषयों का स्वाद, प्राप्त करता है मनःप्रसाद।
प्राप्त होने पर हृदयाह्लाद दूर होते हैं सभी विषाद।

जहाँ यों हुई हृदय की शुद्धि, शीघ्र ही होती है स्थिरबुद्धि।
अयुक्तों में वह बुद्धि कहाँ? कहाँ वह आस्तिक भाव वहाँ?
शान्ति कैसी उन भ्रान्तों को? भला सुख कहाँ अशान्तों को?
इन्द्रियों के पीछे अश्रान्त, दौड़ता हुआ मनुज-मन भ्रान्त;
बुद्धि को हरता है पल में, नाव को वायु यथा जल में।
इन्द्रियाँ इस कारण हे शूर! रहें विषयों से जिसकी दूर,
वही है स्थितप्रज्ञ जन धन्य, कौन उसका-सा सुकृती अन्य?
पूर्ण जलनिधि को ज्यों नदनीर, नहीं कर सकते कभी अधीर;
समाकर त्यों जिसमें सब भोग, प्रकट कर सकें न राग न रोग।
वही पाता है शान्ति यथार्थ, कामकामी न कभी हे पार्थ!
छोड़कर इच्छाएँ जो सर्व, तोड़कर अहंकार या गर्व।
विचरता निर्मम निस्पृह है, शान्ति का वह मानो गृह है;
यही है ब्राह्मी स्थिति, इसको, प्राप्तकर मोह रहे किसको।
इसीसे अन्त समय स्वच्छन्द प्राप्त होता है ब्रह्मानन्द?

राष्ट्रकवि स्व. मैथिलीशरण गुप्त



गीता माता को प्रणाम

मेरी माता को प्रणाम ।
गीता-माता को प्रणाम ।।
है धर्म शास्त्रों का सार ।
सुपथ का खोले द्वार ।।
छोड़ो आसक्ति, न कर्म ।
निष्काम कर्म ही धर्म ।।
जिसने त्यागा स्वधर्म ।
उसका पथ दुर्गम ।।
जिसे मिला है जो काम ।
पूरा कर पूजे श्याम ।।
करो यज्ञ तप दान ।
लगाओ ईश में ध्यान ।।
सर्वहित का हो ज्ञान ।
सब में है भगवान ।।
मेरी माता को प्रणाम ।
गीता-माता को प्रणाम ।।

गोपाल लाल बर्मन

भूमिका

बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर ।।

गीता का जीवन दर्शन मनुष्य मात्र के लिए है। गीता मानव से कहती है कि इस संसार में तुम कर्म किए बिना नहीं रह सकते। इसलिए कुशलता से कर्म करो। कर्मफल की लालसा मत रखो। अनासक्त रहने का अभ्यास करो, यज्ञार्थ कर्म करो। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर रहकर स्वधर्म में लगे रहो।

गीता में युद्ध का उल्लेख जरूर है, पर वह युद्ध मनुष्य देह के अन्दर चल रहा है। वह युद्ध मानव हृदय में चलने वाला देवों और आसुरों, पाण्डवों और कौरवों का युद्ध है, विशाल बुद्धि, परम श्रद्धेय व्यास जी ने मानव के भीतर सदा चलते रहने वाले युद्ध को भौतिक युद्ध की उपमा द्वारा मानव को समझाया है।

ज्ञानी और भक्त महापुरुषों के वचनों से गीता का कुरुक्षेत्र स्पष्ट करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

गीता के उपदेश को अपने जीवन में उतारने वाले परम पूज्य महात्मा गांधी जी के कुछ वचनों का संग्रह भी इस पुस्तक में किया गया है। पूज्य महात्मा गांधी जी ने गीता की शिक्षा पर पूरी तरह अमल किया। सतत निष्काम कर्म

और अन्दर अखण्ड शान्ति। पूज्य विनोबा ने लिखा है 'गीता समझने की चाभी है, प्रत्यक्ष जीवन। सत्पुरुष के जीवन से गीता समझना। भाग्य से गांधीजी के रूप में वह प्रत्यक्ष उदाहरण हमें उपलब्ध हुआ है।'

मैं उन महापुरुषों के चरणों की सादर, वन्दना करता हूँ, जिनके वचनों का, लेखों का, मैंने इस पुस्तक में उल्लेख किया है।

इस पुस्तक की प्रस्तावना श्री गौरीशंकर जी काबरा ने लिखी है। उन्हें पूज्य श्री जयदयाल जी गोयनका व भाई जी श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार के सत्संग का लाभ अनेक वर्षों तक मिला है। काबरा जी गीताजी के भक्त और मेरे मित्र हैं। मैं कृतज्ञ हूँ।

जिन विद्वानों ने 'गीता का कुरुक्षेत्र' पर अपनी सम्मति लिखी है उन सभी को मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

१३ जनवरी १९९९

गोपाल लाल बर्मन
पंचवटी कम्पनी
भेलूपुर वाराणसी

प्रस्तावना

गीता में हमें जीवन के आलोकमय मार्ग का दर्शन होता है। जीवन में अनेक झंझावातों का सामना करते हुए हम गीता से ऐसी शक्ति प्राप्त करते हैं, जिससे हमें इस संसार में जीवन जीने की कला प्राप्त होती है। गीता मानवता का महाकाव्य है। महाभारत काल में अर्जुन के समक्ष जो समस्यायें थी वे आज भी मानव के समक्ष हैं। जीवन संघर्ष की विसंगतियों से मुक्ति पाने के लिए हमें गीता का आश्रय लेना चाहिए।

श्री गोपाल लाल जी बर्मन ने श्रीमद्भगवतगीता का अध्ययन संतो, महात्माओं एवं ज्ञानियों द्वारा रचित ग्रन्थों से किया है। आपने जन समाज के लिए सरल सुबोध भाषा में 'गीता का कुरुक्षेत्र' पुस्तक प्रस्तुत की है। हमारे हृदय में सद्गुणों और दुर्गुणों का निरन्तर द्वन्द्व ही गीता का कुरुक्षेत्र है। पूज्य महात्मा गाँधी जी द्वारा लिखित ग्रन्थों का अध्ययन कर उसे सरल भाषा में दर्शाने का प्रयत्न किया है। गीता केवल संन्यासियों के लिए पढ़ने की पुस्तक नहीं है वरन यह तो मुख्यरूप से गृहस्थाश्रम में रहते हुए, रोजमर्रा के जीवन में जो उलझने पैदा होती हैं उन्हें दूर करने का मार्ग बताती है। जब भी जीवन में कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं गीता-माता अपनी गोद में बैठाकर जीवन जीने का मार्ग सुझाती है।

बर्मन जी के लोकप्रिय-गीता और गीता-सुधा नामसे दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। मानस-सुधा नाम से एक ग्रन्थ और लिखा है। नित्य थोड़ा समय इनका चिन्तन मनन, साधक को प्रेरणा देगा।

मुझे विश्वास है कि 'गीता का कुरुक्षेत्र' गीता को समझने में सहायक होगी।

गौरीशंकर काबरा

सम्मतियां

गीता का कुरुक्षेत्र निरन्तर चल रहे मन और बुद्धि के द्वन्द्व में निष्काम कर्म की प्रेरणा देने वाला ग्रन्थ है। यह धर्म-ग्रन्थ नहीं, मानव विवेक को जाग्रत कर उसे दिशा प्रदान करने वाला ग्रन्थ है। श्री गोपाल लाल बर्मन गीता के निष्ठावान अध्येता हैं। इस छोटी सी पुस्तक में गीता के मर्म को गीता के प्रमुख अध्येताओं, चिन्तकों तथा भक्तों के अनुभूति परक विचारों के साथ अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसे गीता नवनीत कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा।

काश ऐसे ग्रन्थ नेता, शासक, प्रशासक, छात्र सभी इसे मानव-ज्ञान के प्रथम अध्याय के रूप में ग्रहण करते। आज देश में जो विषमता फैली है निश्चय ही गीता उन विकारों को दूर करने में सहायक होती।

पुरुषोत्तमदास मोदी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी

●

गीता को सामान्य लोगों में प्रचारित करने के लिए आवश्यक है कि इसकी भाषा ऐसी हो जो आम आदमी समझ सके।

श्री गोपाल लाल बर्मन ने गीता पर पहले भी जो पुस्तक 'लोकप्रिय गीता' लिखी है वह भी सरल और सुबोध है लेकिन गीता की अन्य अनेक ग्रन्थियों को इस पुस्तक में खोला गया है। श्री बर्मन जी मेरे अग्रज हैं उन्हें कैसे बधाई दूँ। यह एक बहुत बडी कमी को पूरा करेगी। यह पुस्तक प्रत्येक भारतीय के लिए पठनीय एवं समझने योग्य है।

दीनानाथ झुनझुनवाला
मंत्री-प्रहलादराय झुनझुनवाला स्मृति गीता
स्वाध्याय केन्द्र, नाटी इमली-वाराणसी



अनेक साधकों और मनीषियों ने अनुसन्धान, अनुभूति और श्रद्धा द्वारा गीता को समझने समझाने का प्रयास किया है। उनकी विचारणा का सार-संग्रह श्री बर्मन ने सरल भाषा और प्रमविष्णु शैली मे एक सूत्र में पिरो दिया है। इसकी विशेषता है पूर्वाग्रहों का अभाव। अपने निजी अऩुभव से प्राप्त तत्त्वदर्शन को सर्वसाधारण के प्रबोध के लिए प्रस्तुत करने में लेखक को दक्षता प्राप्त है। आशा है गीता प्रेमी इस पुस्तक के ज्ञानमृत का पान कर परितृप्त होगें।

रामजी उपाध्याय
भारतीय संस्कृति-संस्थानम्
महामनापुरी वाराणसी

गीता की अवतरिणिका विचित्र है। कहाँ हर प्रकार के शस्त्रों को उठाए अमर्ष आवेष से उद्वेलित सैनिकों और सेनापतियों की व्यूह रचना और कहाँ सम्पूर्ण भारतीय तत्त्व दर्शन का सर्वांगीणं सारातिसार उपदेश।

युद्ध तो जीवन का ऐसा तथ्य है जो नकारा नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपना निजी युद्ध शत शत इच्छाओं के आपसी टकरावों का साक्षी बनकर लड़ना पड़ता है। चित्त को भ्रान्त करने वाली उलझने सम्मुख रहती हैं और जीव समाधान के लिए व्याकुल हो उठता है। इसी शरीर में रथी के रूप में जीव और सारथी के रूप में अदैत परब्रह्म हैं। आवश्यकता है दोनों के बीच सम्वाद की। यह सम्बाद ही गीता शास्त्र है।

इस पुस्तक में बड़े सहज सुवोध ढंग से श्री बर्मन ने गीता के कुरुक्षेत्र को परिभाषित किया है।

चन्द्रभूषण धर द्विवेदी
आई.ए.एस (सेवा निवृत्त)



श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दर्शन का अनन्यतम ग्रन्थ है। यह मात्र आध्यात्मिक साधना के लिए दिया गया उपदेश नहीं है। गीता में मनुष्य के भीतर निरन्तर चलने वाले कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र अर्थात असत् एवं सत्वृत्तियों के संघर्ष का चित्रण है। अर्जुन संघर्ष करने वाला जीवात्मा है और श्रीकृष्ण उसके मार्ग-दर्शक परमात्मा है। गीता पढ़ने वाला असत्य से सत्य

की ओर एवं अन्धकार से प्रकाश की ओर उन्मुख हो ज़ाता है। गीता सम्पूर्ण मानव की महान सम्पदा है। इसे ग्राह्य करने वाला व्यक्ति गृहस्थी को ही तपोभूमि बना लेता है।

प्रस्तुत पुस्तक गीता का कुरुक्षेत्र बर्मनजी की नयीं पुस्तक है। सरल शब्दो में गीता ज्ञान को प्रस्तुत किया गया है। मेरा विश्वास है कि उनकी यह पुस्तक गीता प्रेमियों के लिए अनुपम धरोहर सिद्ध होगी।

डॉ. चन्द्रकला पाडिया
सचिव—गीता समिति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
प्रोफेसर—राजनीति शास्त्र महिला महाविद्यालय



श्री गोपाल लाल जी बर्मन दीर्घकाल से श्रीमद्‌भगवद् गीता के चिन्तन-मनन में सतत संलग्न रहते हुए समय का सदुपयोग करते आ रहे हैं।

एक मात्र गीता के अनुशीलन से मानव सहज ही लक्ष्य प्राप्ति कर सकता है। 'गीता गंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते'।

भगवान ने सर्वस्वसार-रूप में कहा है—

सब धर्मों को छोड़ एक बस आड़ अकेली मेरी धर।
सब पापों से मुक्त करू मैं शोच न कर तू रत्ती भर।।

सत्यनारायण काबरा
रवीन्द्रपुरी, वराणसी



कुरुक्षेत्र का युद्ध प्रतीक है उस आन्तरिक युद्ध का जो मानव देह में सक्रिय है। हमारा शरीर कर्मक्षेत्र है, यदि हम ईश्वर का निवास-स्थान मानकर अनासक्त होकर कर्तव्य कर्म करें तो यह धर्मक्षेत्र बन जाय। गीता कहती है कि स्वधर्म पालन करने में रुकावट करने वाली सभी बाधाओं से युद्ध करो। जो सेवा कार्य सामने आता है उसे ईश्वर के नाम पर और ईश्वर के लिए पूरा करो। ईश्वर का आश्रय ग्रहण करने वाला सदा सब कर्म करता हुआ ईश्वर की कृपा से अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। 'गीता का कुरुक्षेत्र' द्वारा गीता का स्वरूप समझने में आसानी होगी। महात्मा गांधी जी के विचारों को चुनकर गोपाल लाल वर्मन जी ने इस पुस्तक में भरा है।

बद्रीप्रसाद राजगढ़िया

एडवोकेट, हाईकोर्ट व सुप्रीम कोर्ट, पटना

●

जीवन अमूल्य है। जिन साधक भक्तों को ईश्वर की प्राप्ति करनी है एवं उनका सानिध्य प्राप्त करना है उन्हें व्यर्थ में तर्क-वितर्क में पड़कर जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए। शंका रहित होकर एकाग्र मन से गीता में बताये गये। आध्यात्मिक पथ पर चल कर गीता रूपी ज्ञान गंगा में स्नान कर सारी मलीनता को धो डालें। बर्मनजी द्वारा रचित 'गीता का कुरुक्षेत्र' में दर्शाये गये आध्यात्मिक संदेशों का गहन अध्ययन करें एवं अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करें।

ऊषा किरण मेहरा

भूतपूर्व प्रोफेसर एवं प्रिन्सपल

महिला महाविद्यालय बी.एच.यू.

गीता सत्य सनातन है और सनातन धर्म का सार है। गीता के विचार मानवमात्र का इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाले हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति इन तीनों का जैसा समन्वय गीताजी में हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। जीवन में इन तीनों की ही परम आवश्यकता है यह गीता बताती है। 'गीता का कुरुक्षेत्र' पुस्तक मे भाई गोपाल लाल बर्मन जी ने परम पूज्य महात्मा गांधी जी के गीता जी के बारे में विभिन्न अवसरों पर कहे विचारों का उद्‌हारण देकर लोक-कल्याण का कार्य किया है।

रामावतार झुनझुनवाला
आनन्दप्रेस भागलपुर

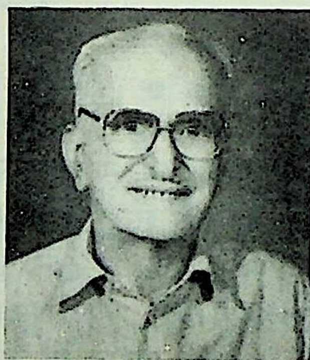


गीता भारत के ग्रन्थ-रत्नों में से एक प्रमुख ग्रन्थ-रत्न है। श्री गोपाल लाल बर्मन ने सरल भाषा के माध्यम से गीता के स्वाद को जन-सामान्य तक पहुँचाने का सराहनीय कार्य किया है। इन्होनें लोकप्रिय-गीता, गीता-सुधा और मानस-सुधा की रचना भी की है, जिनकी प्रशंसा हुई है। अब इनका गीता का कुरुक्षेत्र ग्रन्थ आपके सम्मुख है। विश्वास है कि इस ग्रन्थ का भी समादर होगा।

शिवशंकर मिश्र
हिन्दी सम्पादक
पिलग्रिम्स बुक हाउस
नवाबगंज रोड वाराणसी

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या



गोपाल लाल बर्मन

(पिता–स्व. श्री अनन्त प्रसाद जी बर्मन)

जन्म–१३ जनवरी १९१९

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. लोकप्रिय-गीता

२. गीता-सुधा

३. मानस-सुधा

गीता का कुरुक्षेत्र

गीता एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है जिसका सारे संसार में सम्मान है। गीता कर्म भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी है।

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है। महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ में छोटी सी गीता, विशाल आकाश में पूर्णिमा के चांद की तरह सुशोभित है।

गीता हमारी प्रतिदिन की मार्ग दर्शक है। गीता हमें द्वन्द्वों को सहने की सामर्थ्य देती है। गीता हमें सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति में सम रहना सिखाती है। अनेक समस्याओं में उलझें किंकर्तव्य विमूढ़ मनुष्य को गीता सही पथ का निर्देश करती है। गीता मानवीय समस्याओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करती है।

गीता, धर्म को आचरण में उतारने की विधि बताती है। श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय-दर्शन का अद्वितीय ग्रन्थ है। गीता किसी सम्प्रदाय विशेष का ग्रन्थ नहीं है। गीता मानव-मात्र की पथ-प्रदर्शिका है। गंगा हिन्दुओं की पूजनीय नदी होते हुए भी मानव-मात्र का कल्याण करने वाली है। गंगा में जो भी स्नान करे गंगा उसे स्वच्छ शीतल और निर्मल करती है। गीता वैदिक धर्म की सार-सर्वस्व है, एवं मानव-मात्र की हितचिन्तक और पथ-प्रदर्शक है।

गीता हमें असत् से सत्य की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर जाने की प्रेरणा देती है और उसका मार्ग भी बताती हैं। लाखों-करोड़ों लोग गीता को भक्ति भाव से पढ़ते है। अनेकों केवल श्लोकों का पाठ करते हैं, दूसरे अर्थ सहित पढ़ते हैं। फिर भी जनसाधारण गीता को समझ नहीं पाते।

गीता के प्रारम्भ में ही भौतिक युद्ध की चर्चा से हमें उलझन होती है। गीता का अवतरण कुरुक्षेत्र की भूमि पर उस समय हुआ जब दोनों पक्ष की सेनाएँ युद्ध के लिए खड़ी थीं और युद्ध का शंखनाद भी हो चुका था।

गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र संजय से पूछता है कि मुझे बतलाओ—धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रों ने क्या किया? संजय ने कहा—उस समय दुर्योधन ने पाण्डवों की सुसज्जित सेना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा कि पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिये। दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना के प्रधान योद्धाओं के तथा अपनी सेना के प्रधान योद्धाओं के नाम बताए। उसी समय भीष्म पितामह ने शंख बजाया। श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने-अपने शंख बजाये। उसी समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूं और जानूं कि इस युद्ध में मुझे किनके साथ लड़ना है। दुर्बुद्धि

दुर्योधन का हित करने की इच्छा वाले जो योद्धा एकत्र हुए हैं उन्हें मैं देखना चाहता हूँ। रथ को सेनाओं के बीच में खड़ा कर देने पर अर्जुन ने अपने चचेरे भाइयों, बन्धुओं, स्वजनों तथा आचार्यों को युद्ध के लिए तैयार देखा। स्वजनों को युद्ध के लिए खड़ा देखकर उसके मन में विषाद हुआ और कुल-नाश के परिणाम का विचार कर उसने सगे-सम्बन्धियों से लड़ने से इनकार कर दिया और शोक से व्यग्रचित्त हुआ बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया। पहला अध्याय यहाँ समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रथम अध्याय में ही युद्ध की चर्चा पढ़कर साधारण पाठक के मन में शंका होती है, उलझन होती है, कि क्या अर्जुन को भौतिक युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए ही श्रीभगवान् ने गीता गायी? क्या गीता के उपदेश का इतना ही प्रयोजन था कि अर्जुन भौतिक युद्ध में प्रवृत्त हो जाय?

गीता की हम पूजा करते हैं। प्रतिदिन गीता पढ़ते भी हैं। पर गीता का जीवन-दर्शन हमें इसलिए हृदयंगम नहीं हो पाता कि हम ऊपरी आवरण पूरी तरह हटाते नहीं जिससे कि अन्दर की छवि का दर्शन कर सकें।

प्राणिमात्र को निर्वैर का पाठ पढाने वाली गीता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। आध्यात्मिक सत्य को हृदय में बैठाने के लिए गीता भौतिक युद्ध की उपमा का आश्रय लेती है। हमारे हृदय में सद्वृत्तियों की और पाप वृत्तियों की, सद्गुणों की, और दुर्गुणों की, पाण्डवों की और

कौरवों की लड़ाई निरन्तर चल रही है। जब तक जीवन है यह युद्ध चलता रहता है। जब हमारे हृदय में सद्‌गुण, सद्‌विचार प्रबल हो जाते हैं। और दुर्गुण और बुरे विचारों को ढकेल देते हैं तो समझिये पाण्डवों की जीत हो रही है। जब दुर्गुण, विकार और वासनाएं हमारे हृदय पर कब्जा कर लेते है, और सद्‌गुणों को दबा रखते हैं तब समझिये कौरवों की जीत हो रही है। मनुष्य का हृदय ही कुरुक्षेत्र है जिसमें सद्‌गुणों और दुर्गुणों के बीच युद्ध छिड़ा हुआ है। अपनी आँखों को बन्द करके अन्तर्मुख होइये और आप इस विकट युद्ध को देख सकेगें। सत्य, अहिंसा प्रेम, करुणा, क्षमा, दया, त्याग, यज्ञ तप, दान और विनम्रता आदि सद्‌गुण पाण्डवों की सेना है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, कपट, पाखण्ड, घृणा, द्वेष अहंकार आदि दुर्गुण कौरवों की सेना है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' इसलिए सर्वकाल मेरा स्मरण कर और युद्ध भी करता रह। शस्त्रों से लड़ा जाने वाला कोई भी युद्ध सर्वकाल नहीं चलता, निरन्तर नहीं चलता रहता। महाभारत का युद्ध तो केवल १८ दिन चला। आधुनिक काल में होने वाले प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध भी कुछ वर्ष ही चले। जब श्री भगवान् सर्वकाल स्मरण करने और सर्वकाल युद्ध करने को कहते हैं तो उनका स्पष्ट आशय उस युद्ध से है जो मानव हृदय के अन्दर भलाई

और बुराई के बीच सतत चलता रहता है। अनुपम ग्रन्थ गीता का उपदेश भौतिक युद्ध को लड़ने के लिए नहीं दिया गया। मानव हृदय में होने वाले युद्ध को लड़ने और इसी युद्ध में विजय प्राप्त करने का उपदेश गीतामाता देती हैं। इसी युद्ध में बुराई से ऊपर भलाई की विजय कराना गीता का उद्देश्य है, और इस उद्देश्य को प्राप्त करने का उपाय भी गीता बताती है। मनुष्य को राग-द्वेष त्यागकर स्वधर्म का पालन करना चाहिये। अनासक्तिपूर्वक अपने नियत कर्म में लगे रहना चाहिये। हर स्थिति में, हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख, मान-अपमान में समता बनाए रखनी चाहिये।

श्री विनोबा कहते हैं—'गीता बड़ा विचित्र ग्रन्थ है, विलक्षण ग्रंथ है। हर ग्रन्थ का एक कवच होता है। जैसे फल पर छिलका होता है। बाहर की हवा का खराब असर उस पर न हो, इसलिए बचाव के लिए एक छिलका होता है। वैसे ही धर्म-ग्रन्थों पर एक छिलका हुआ करता है। जैसे केले का छिलका उतारकर अन्दर का खा लेते हैं, वैसे ही धर्मग्रन्थ पर का छिलका उतारना पड़ता है और अन्दर का खाना पड़ता है। गीता पर जो छिलका है, वह बहुत कठिन और सख्त है, नारियल जैसा है। गीता ग्रन्थ नारियल के समान है। उसके ऊपर का छिलका हटाना बड़ा कठिन है जो उसको छीलना जानेगा, उसे पता चलेगा कि अन्दर सार-गर्भ वस्तु भरी है। गीता का जो ऊपरी छिलका है उसमें युद्ध की समस्या खड़ी कर दी और आमने-सामने भाई-भाई खड़े

है, कुछ लड़ना चाह रहे हैं और अर्जुन है, जो लड़ने से बाज आ रहा है, परावृत हो रहा है। आत्मा की अमरता, देह की तुच्छता, योग, बुद्धि, भक्ति, ध्यान योग, त्रिगुणातीत होने की वृत्ति और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को पृथक कराना आदि पचास बातें उनके पीछे लगाकर सारा तत्वज्ञान कहकर भगवान उसको युद्ध में प्रवृत्त कर रहे हैं। अजीब सी बात है कि एक भौतिक युद्ध में और जहाँ भाई-भाई लड़ रहे हैं, ऐसे युद्ध में यह ग्रन्थ प्रेरणा दे रहा है। इसीलिए इस ग्रन्थ के ऊपर के छिलके के कारण बहुत लोग बहक गये। गीता का असली स्वाद तो ऊपर का छिलका हटाने पर ही आता है।''

मेरा आपसे आग्रह है, सादर निवेदन है कि आप गीता के ऊपर का छिलका हटा दें। बिल्कुल हटा दें तभी आप अन्दर भरे सार-गर्भ तत्त्वज्ञान का दर्शन कर सकेगें। गीता में जिस युद्ध का उल्लेख हुआ है और जिसे आधार बनाकर इस महान धर्म-ग्रन्थ का ताना-बाना बुना गया है, वह युद्ध भूमि पर किसी समय दो भाइयों के बीच शस्त्रों द्वारा लड़ा जाने वाला युद्ध न होकर मानव देह के अन्दर सद्‌गुणों और दुर्गुणों के बीच सतत चलता रहने वाला युद्ध है। इस यद्ध को लड़कर जीतने के लिए सत्य, अहिंसा, सन्तोष, संयम, यज्ञ, दान, तप, आदि गुण रूपी हथियारों की आवश्यकता पड़ती है।

गीता प्रवचन में श्री विनोबा कहते है—''बहुत प्राचीन काल से मानवी मन में सत्-असत् प्रवृत्तियों का जो झगड़ा

चल रहा है उसका रूपकात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड़ गयी है। वेद में इन्द्र व वृत्र, पुराणों में देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियों के धर्म ग्रन्थों में अहुरमज्द व अहरिमान, ईसाई मजहब में प्रभु व शैतान, इस्लाम में अल्लाह व इब्लीस—इस तरह के झगड़े सभी धर्म-ग्रन्थों में आते हैं। काव्य में स्थूल विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों द्वारा किया जाता है, तो धर्म-ग्रन्थों में सूक्ष्म मनोभावनाओं का वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्य में स्थूल का सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहाँ सूक्ष्म का स्थूल के द्वारा। इससे यह सूचित नहीं करना है कि गीता के आरम्भ में जो युद्ध का वर्णन है वह काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परन्तु कवि यहाँ उसका उपयोग अपने इष्ट हेतु को सिद्ध करने के लिए कर रहा है। कर्तव्य के विषय में जब मन में मोह पैदा हो जाता है तब मनुष्य को क्या करना चाहिये, यह बात युद्ध के एक रूपक द्वारा समझाई गयी है।"

ब्रह्मविद्या के चिन्तन मनन में निमग्न गीता-माता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। गीता इस बात का आग्रह नहीं करती कि अर्जुन भौतिक युद्ध में प्रवृत्त हो जाय। गीता इस बात का आग्रह करती है कि मनुष्य स्वधर्म पालन में रोड़ा अटकाने वाली बाधाओं और विकारों से युद्ध करे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो आपको स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिये वह यह है कि किसी ऐतिहासिक श्रीकृष्ण ने

किसी ऐतिहासिक अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश नहीं दिया।

गीता कवि शिरोमणि विशालबुद्धि व्यास की रचना है जिन्होंने महाभारत की रचना की। लगभग पाँच हजार वर्ष पुरानी महाभारत के रचनाकार महापण्डित व्यास के बारे में पूरे ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात नहीं हैं।

'लोकप्रिय-गीता' में लिखा है कि—"कवि शिरोमणि महान् ज्ञानी और कर्मयोगी व्यास ने गीता में जीवन की कला, अनासक्ति की महिमा और स्थितप्रज्ञ की जीवनचर्या का विवेचन श्रीकृष्ण के मुख से इसलिए कराया है कि श्रीकृष्ण महाभारत के प्रमुख पात्र और असाधारण प्रतिभावाले महान् योगी ज्ञानी महापुरुष हैं। कर्मयोग की महिमा का वर्णन अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कर्मयोगी के मुख से सुनने को मिले तो सोना में सुगन्ध आ जाती है। इसलिए यह जानते हुए भी कि गीताजी व्यासजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता और कर्मसाधना की उपज हैं हम गीताजी को श्री भगवान् के मुख से प्रकट हुई सुनकर बड़े आनन्दित होते हैं। हम व्यासजी के चरणों में श्रद्धा से नतमस्तक होते हैं कि उनका चिन्तन इतना निरभिमानी और लोक-हितचिन्तक था कि अपने महाकाव्य का मुख्य सन्देश उन्होंने श्री भगवान के मुख से कहलाया और अपने को नेपथ्य में रखा। यह शंका निराधार है कि गीता को श्रीभगवान के मुख से प्रकट न मानकर व्यासजी की रचना मानले तो गीता की महिमा घट जायगी। भारतीय समाज का

निरन्तर उपकार करने वाली गंगा जिससे भारत की भूमि जलप्लावित हुई, हरी-भरी हुई, जिसके तटपर बैठकर अनेक मुनियों और साधु-संतों ने तपस्या की, जिसका सारा जीवन अहर्निश परहित में लगा है, ऐसी गंगा यदि विष्णु चरण से न प्रवाहित होकर हिमालय से निकली हो तो क्या उसका महत्व, उसकी महिमा कम हो जायगी?

गंगा और गीता की महिमा तो सर्वदा बनी रहेगी क्योंकि उन्होंने परहित, जनकल्याण और अनासक्ति का मार्ग सुझाया है।

व्यासजी की विनम्रता थी कि यह जानते हुए भी कि महाभारत रूपी महासागर में से गीतारूपी एक गागर अमृत निकल आया है उन्होंने उसे ईश्वर कृपा माना। उन्होंने जो उपदेश दिया उसका स्वयं आचरण किया-अपने को निमित्तमात्र मानकर उन्होंने इस अमृत को कृष्णार्पण कर दिया। व्यासजी 'पद्म पत्रमिवाम्भसा' गीता की रचना से अलिप्त हो गए और श्रीभगवान् ने उसे अपना लिया। प्रातः स्मरणीय व्यासका ऐसा समर्पण-ऐसी कर्मफल त्याग की भावना बारम्बार वन्दनीय है।"

हर रोज का महाभारत–

इस शीर्षक से मैने नवभारत टाइम्स के एक अंक में यह छोटा सा लेख पढ़ा था—

"बहुत बड़ा ज्ञानी था वह चिंतक, जिसने जीवन को एक युद्ध के रूप में देखा था। यह युद्ध हमें अपने व्यापार

में, व्यवसाय में, घर-बाहर....हर जगह लड़ना होता है। बाहर की विरोधी शक्तियां हमारी सफलताओं में बाधा पहुँचाने की कोशिश करती हैं, हम लड़कर आगे जाने की कोशिश करते हैं।

लेकिन हमें उससे भी बड़ा युद्ध लड़ना पड़ता है अपने अन्दर। हमारे अन्दर भी दो सेनाएं है। एक शुभ वृत्तियों की सेना और दूसरी अशुभ वृत्तियों की सेना। इन दोनों की ठनाठनी के बीच खड़े हम तय नहीं कर पाते कि सही और अच्छा रास्ता कौन सा है?

आत्मा के एक कोने से आवाज बुलन्द होकर उठती है। 'अच्छाई-बुराई का चक्कर छोड़ो। अगर संसार में जीना है तो किसी भी तरह, छल-प्रपंच से ही सही, अपना काम बनाओं।' और तभी दूसरे कोने से एक धीमा सा स्वर सुनाई पड़ता है—'देखो मेरी आवाज भले ही धीमी हो लेकिन तुम उसे सुनो' मैं तुम्हारे अन्दर का देवता हूँ, तुम्हारा शुभ हूँ, अमंगल की तरफ मत बढ़ो, नष्ट हो जाओगे।

इन दोनों आवाजों के बीच जीवन की दौड़ में जल्दी से आगे जाने का लालच हमें विचित्र उलझन में डाल देता है। हम किसी भी कीमतपर सफल होना चाहते हैं जबकि कई बार तो यह सफलता थोड़ा ही आगे जाने पर भ्रामक सिद्ध होती है। हमारे ही बोये बीज बहुधा हमें ही कांटा चुभाते हैं; हमारे ही विचार और कर्म बाधा बन जाते हैं।

हमारे नये और पुराने कर्म ही हमारा भाग्य बनाते हैं। भाग्य तो होता ही है हमारे कर्मका प्रतिफल। इसीलिए भाग्यका बदलना हमारे कर्म के द्वारा ही सम्भव है। अच्छे कर्म करें तो भाग्य के रूप में अभी या आगे चलकर, उसका फल मिलेगा ही। इसीलिए गीता में कर्म को मूल बिन्दु बनाया गया। उसके अनुसार तो विचार भी कर्मका एक रूप है।

जीवन संग्राम में स्थायी और शुभ सफलता के लिए विचार और कर्म को शुभ वृत्तियों से जोड़ रखना आवश्यक है।''

अगर गीता अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए ही कही गयी होती तो आज हमें गीता को श्रद्धा और लगन से पढ़ने की क्या जरूरत है। महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया अर्जुन भी मर गया। अब हमें कोई युद्ध तो करना नहीं है फिर क्या-जरूरत है इसे पढ़ने की। अब रखदो गीता को उठाकर पूजा घर में। पर बात ऐसी नहीं है। गीता हमसे कही जा रही है। श्रीभगवान हमें प्रतिदिन गीता सुना रहे हैं। हमारा जीवन संग्राम चल रहा है। और श्रीभगवान हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमारा मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। गीता का अर्जुन प्रतिनिधि है उन मनुष्यों का जो इस संसार में दैवी सम्पदा को प्राप्तकर जन्म लेते हैं। अपने हिस्से में प्राप्त कर्तव्य कर्मों को करने के लिए कुरुक्षेत्र में, कर्मक्षेत्र में आकर खड़े होते हैं। पर जब वे देखते हैं कि आसुरी प्रवृत्ति वाले अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए धोका-धड़ी, कपट, झूठ और हिंसा का

सहारा ले रहे हैं तो उन्हें विषाद होता है, शोक होता है, चित्त अस्थिर हो जाता है। एक विचार उनके मन में उठता है कि क्यों न कर्मक्षेत्र से पलायन कर किसी आश्रम या वन में जाकर शान्त जीवन व्यतीत करें। वे सोचते हैं कर्मक्षेत्र से, कुरुक्षेत्र से, पलायन कर वे विविध पापों से बच जायेंगे। कर्तव्य विमूढ़ होकर वे श्रीभगवान् की शरण लेते हैं उनसे कल्याण का मार्ग पूछते हैं। श्रीभगवान् उन्हें बताते हैं कि मनुष्य कर्मों को त्याग देने मात्र से निष्कर्मता को नहीं प्राप्त होता और नहीं पाप से बच पाता है। फिर मनुष्य से कर्मों का सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता क्योंकि कोई भी पुरुष या स्त्री क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकती। इसलिए तुम नियत कर्मों को करो; आसक्ति-रहित होकर निरन्तर कर्तव्य कर्मों को करने वाला व्यक्ति मोक्ष पाने के योग्य होता है।

गीता के अर्जुन का शत्रु दुर्योधन नहीं है, दुःशासन तथा उसके भाई भी नहीं है। तब उसका शत्रु कौन है ? किससे उसे लड़ना है ? विकार और वासनाएं ही अर्जुन की वास्तविक शत्रु हैं। उसे उन्हीं से लड़ना है और उन्हीं को मार गिराना है। तीसरे अध्याय के अन्त में अर्जुन के प्रश्न पर श्रीभगवान् उसको बताते हैं "हे अर्जुन काम क्रोध आदि दुर्गुण ही तुम्हारे बैरी हैं। विद्ध्येनमिह वैरिणम्—इनको ही तू बैरी समझ। ये बड़े बलवान् शत्रु हैं। जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे झिल्ली से गर्भ ढका

रहता है वैसे ही काम क्रोध आदि शत्रुओं से मनुष्य का ज्ञान ढका रहता है। काम-क्रोध रूपी वैरियों ने ज्ञान को ढ़क रखा है। इन शत्रुओं के कारण मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है। इन्द्रियाँ मन और बुद्धि इन काम, क्रोधरूपी शत्रुओं के निवास स्थान हैं। इन्हीं में रह कर ये शत्रु ज्ञानको ढककर मनुष्य की विवेक शक्ति को मंद कर देते हैं। इसलिए तू पहले इन्द्रियों को वश में रखकर ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इन काम क्रोध लोभ रूपी शत्रुओं को निश्चयपूर्वक मार डाल। यदि तू समझता है कि इन बैरियों को मारने की तुझे शक्ति नहीं हैं तो यह तेरी भूल हैं क्योंकि इस शरीर से इन्द्रियाँ परे-बलवान और सूक्ष्म हैं, इन्द्रियों से परे व सूक्ष्म मन है, मन से परे व सूक्ष्म बुद्धि और बुद्धि से परे तथा अत्यन्त बलवान और श्रेष्ठ आत्मा को जानकर बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके तू काम क्रोध रूपी दुर्जय शत्रुओं का संहार कर।

आप कृपाकर अपनी गीताजी का तीसरा अध्याय खोलें। श्लोक संख्या ३६ में अर्जुन का प्रश्न है और श्लोक संख्या ३७ से ४३ तक के ७ श्लोकों में श्रीभगवान् अर्जुन को उसके वास्तविक शत्रुओं का बोध कराते हैं, उनसे लड़ने की प्रेरणा देते हैं तथा उत्साहित करते हैं।

इन सात श्लोकों में श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं—

विद्ध्येनमिह वैरिणम् = इनको तू वैरी जान

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं = इन पापियों को निश्चय ही मार

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् = हे महाबाहो ! दुर्जय कामरूप शत्रुओं को मार डाल।

महाभारत का युद्ध हुआ होगा और अर्जुन युद्ध में लड़ा होगा। महाभारत के ऐतिहासिक युद्ध का निषेध करने का कोई कारण नहीं है। समझने की बात यह है कि गीता के अर्जुन को श्री भगवान् विकारों और दुर्गुणों से लड़ने का आदेश देते हैं, उन्हीं से अर्जुन को लड़ना और मार गिराना है।

गीता में अर्जुन ने एक भी प्रश्न भौतिक युद्ध के सम्बन्ध में नहीं पूछा है। भौतिक युद्ध की बात होती तो अर्जुन पूछ सकता था—

(क) गुरु द्रोणाचार्य तो युद्ध विद्या में बड़े निपुण हैं, उन्हें कैसे जीतें।

(ख) मेरी सेना की व्यूह रचना ठीक है या नहीं।

(ग) किस उपाय से युद्ध में जीत हो सकेगी।

(घ) महाप्रतापी भीष्म पितामह को मैं युद्ध में जिन उपायों से मार सकूँ, कृपया मुझे बतावें।

(ङ) द्रौपदी के अपमान का बदला मुझे दुर्योधन से लेना है, उसकी शीघ्र ही मृत्यु का उपाय बतावें।

दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन श्रीभगवान् की शरण जाता है और श्रेय का, कल्याण का साधन पूछता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। २।७

कायरतारूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहितचित हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो मेरे लिए निश्चित रूप से श्रेयस्कर हो, कल्याणकारक हो वह साधन मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये।

श्रेय—कल्याणकारी साधन। दुःख से छूटने और नित्य आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम को जानने व प्राप्त करने का उपाय।

प्रेय—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश, आदि इहलोक के सुखभोग के साधन।

अर्जुन श्रीभगवान् से प्रेय के साधन न पूछकर श्रेय के साधन जानने की जिज्ञासा करता है।

अर्जुन का दूसरा प्रश्न है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।२।५४

हे केशव ! स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं। स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है ?

सम्पूर्ण गीता में अर्जुन ने जो प्रश्न पूछे हैं वे श्रेय का, कल्याण का मार्ग जानने के सम्बन्ध में हैं। अर्जुन का एक भी प्रश्न प्रेय-सुख सुविधा, धन धान्य, ऐश्वर्य तथा राज्य प्राप्ति के सम्बन्ध में नहीं है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि गीता माता का विषय अर्जुन को श्रेयका, कल्याण का मार्ग बताना है, प्रेय का-धन धान्य सम्पन्न राज्य की प्राप्ति कराना नहीं है।

गीता के किसी अध्याय का नाम भी भौतिक युद्ध से सम्बन्ध नहीं रखता। गीता में यदि भौतिक युद्ध की चर्चा होती तो अध्यायों के नाम इस प्रकार हो सकते थे—

शत्रुसंहारयोग
विजययोग
शत्रुदमनयोग
युद्धकौशलयोग
युद्धविज्ञानयोग

पर गीतामाता के अध्यायों के नाम तो इस प्रकार हैं—

१. अर्जुनविषादयोग
२. सांख्ययोग
३. कर्मयोग
४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग
५. कर्मसंन्यासयोग
६. आत्मसंयमयोग
७. ज्ञानविज्ञानयोग
८. अक्षरब्रह्मयोग
९. राजविद्याराजगुह्ययोग
१०. विभूतियोग

११. विश्वरूपदर्शनयोग **१५. पुरुषोत्तमयोग**

१२. भक्तियोग **१६. दैवासुरसम्पद्‌विभाग योग**

१३. क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग **१७. श्रद्धात्रयविभाग योग**

१४. गुणत्रयविभागयोग **१८. मोक्षसंन्यासयोग**

गीता में दूसरे अध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, योग, स्वधर्मपालन, हर स्थिति में चित्तकी समता, आत्मा की नित्यता, देह की अनित्यता, ईश्वर का स्वभाव, निष्कामकर्म, कर्मयोग, भक्ति का स्वरूप, ध्यान, गुणातीत बनने की साधना, गुणातीत के लक्षण, ज्ञानीके लक्षण, दैवी आसुरी सम्पत्ति की पहचान, श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप की ही चर्चा है।

दूसरे अध्याय से अठारहवें अध्याय तक की एक झलक देखें—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२।३८

सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३।३०

अध्यात्म-वृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके आसक्ति और ममत्व को त्याग कर तू सन्ताप रहित, उद्वेग रहित होकर युद्ध कर।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।४।३६

तू सब पापियों से बड़ा पापी होने पर भी ज्ञानरूप नौका द्वारा सब पापों को अच्छी तरह तर जायगा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।५।१०

जो मनुष्य कर्मों को ब्रह्मार्पण करके, आसक्ति छोड़कर कर्म करता है वह पाप से उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानी में रहने वाला कमल पानी से अलिप्त रहता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।६।२९

सर्वत्र समदर्शी-समभाव रखने वाला योगी अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।७

हे धनंजय! मुझसे परे दूसरा कुछ नहीं है। यह सारा संसार मुझ में उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे कि मणियां धागे में पिरोई रहती हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।८।७

इसलिए तू सदा मुझे स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार मेरे में मन और बुद्धि को अपर्ण करने से तू अवश्य ही मुझे पावेगा।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।९।२२

जो भक्त अनन्यभाव से मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहने वालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूँ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।१०

मुझे निरन्तर भजने वालों को मैं बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मेरे को प्राप्त करते हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।११।५५

हे पाण्डव! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है और प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर होकर रहता है, वह मुझे पाता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।१२।१८-१९

शत्रु मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, इन सब में जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निन्दा और स्तुति में समान भाव से बर्तता है और मौन, धारण करता है, जिस किसी प्रकार भी जीवन का निर्वाह हो जाय उसी में जिसे सन्तोष है, जिसका अपना निजी निवास-स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।१३।२७

जो मनुष्य नष्ट होते हुए सब प्राणियों में नाशरहित परमेश्वरको समभाव से स्थित देखता है वही देखता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।१४।२६

जो अनन्य भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह तीनों गुणों को पार करके ब्रह्मरूप बनने योग्य होता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणिभूतानि कुटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१५।१६-१७

इस लोक में क्षर अर्थात नाशवान और अक्षर अर्थात अविनाशी दो पुरुष हैं। प्राणिमात्र के शरीर क्षर हैं और उनमें रहने वाले जीवात्माको अक्षर (अविनाशी) कहते हैं। उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, उसे अविनाशी ईश्वर तथा परमात्मा ऐसे कहा गया है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्रयं त्यजेत् ।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।
१६।२१-२२

हे कौन्तेय! आत्माका नाश करने वाले नरक के ये तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए मनुष्य को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये। इन तीनों नरक के द्वारों से विमुक्त मनुष्य कल्याण का आचरण करता है, इससे वह परमगति पाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।
१७।५-६

जो मनुष्य दंभ और अहंकार से युक्त काम और आसक्ति के वेग से प्रभावित होकर शास्त्र की विधि के विरुद्ध मनमाने ढंग से घोर तप करते हैं तथा जो शरीर में स्थित पंचभूत समूह को और साथ ही अन्त:करण में विद्यमान मुझ परमेश्वर को भी कष्ट पहुँचाते हैं। उनको तू अविवेकी तथा आसुरी स्वभाव वाले जान।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु में परमं वचः ।
इष्टोऽसि में दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।
मन्मना भव मद्‌भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

१८।६४-६५-६६।।

सबसे गोपनीय ऐसा मेरा परम वचन सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए तुझसे मै तेरे हित की बात कहता हूँ।

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

सब धर्मों, सब मत-मतान्तरों तथा तर्क-वितर्कों को त्याग कर तू मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

जब गीता को भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है और भौतिक युद्ध की उपमा हृदय के अन्दर सतत हो रहे संग्राम को समझाने के लिए है तो प्रश्न यह उठता है कि फिर भौतिक युद्ध की चर्चा से गीता का प्रारम्भ ही क्यों किया गया ? इसका कारण यह हो सकता है कि जब विशालबुद्धि व्यास जी महाभारत लिख रहे थे उसी समय उनके हृदय में ईश्वर ने यह अनुपम शाश्वत शास्त्र लिखने की प्रेरणा दी। महाभारत में युद्ध की चर्चा चल रही थी, उसी भौतिक युद्ध की उपमा देकर महान रचनाकार ने गीता लिखी। गीता उसी तरह प्रश्न उत्तर की शैली में है जिस तरह महाभारत है। गीता उसी तरह विशालबुद्धि महापण्डित व्यासजी की रचना है—जैसे सम्पूर्ण महाभारत व्यासजी की रचना है। गीता में प्रतिपादित जीवन-दर्शन की ओर पाठक को आकर्षित करने के लिए उसे उस समय के सबसे बड़े कर्मयोगी, ज्ञानी और सर्वभूत के हित में लगे रहने वाले श्रीकृष्ण के मुख से कहलाया है। हमारे भीतर महाभारत का युद्ध चल रहा है। हम अपने भीतर सतत चलते रहने वाले युद्ध में यदि स्वयं को अर्जुन की भूमिका निभाने के लिए तत्पर करें तो अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण हमारे जीवन-रथ के सारथी बनेंगे और गीता की शिक्षा हमारे जीवन में, हमारे कर्मों में अवतरित होगी। महाभारत काल में अर्जुन के समक्ष अनेक समस्याएं और प्रलोभन थे। आज भी मानव के सम्मुख अनेक समस्याएं और प्रलोभन हैं। जीवन संघर्ष की विसंगतियों को सुलझाने के लिए हमें गीता-माता का आश्रय लेना चाहिये।

भौतिक युद्ध की उपमा का आश्रय लेकर जीवन-संघर्ष में डटे रहने और वैरियों से युद्ध करते रहने का आशय यह भी है कि जैसे भौतिक युद्ध में एक निष्ठावान कर्तव्य परायण सैनिक दुश्मन की तलवार के प्रहार के डर से युद्ध क्षेत्र छोड़कर भाग नहीं जाता-वरन शत्रु से युद्ध करता है, उसी प्रकार एक अध्यात्म सैनिक को अपने कर्मक्षेत्र में आनेवाली बाधाओं और प्रलोभनों से घबड़ाकर भागने की बात नहीं सोचना चाहिये। उसे ईश्वर का स्मरण करते हुए अपने स्वधर्म पालन में रोड़ा अटकाने वाली सभी कठिनाईयों और विकारों से सतत युद्ध करना चाहिये। तस्मात्सर्वेषुकालेषु मामनुस्मर युध्य च। और युद्ध करते हुए उसे क्रोध, गुस्सा, घबराहट, उद्वेग या सन्ताप भी नहीं होना चाहिए। उसे हर परिस्थिति में—अनुकूल हो या प्रतिकूल-शान्त चित्त रहना चाहिये। युध्यस्व विगतज्वरः।

२

अब मैं आपको उन विद्वानों, महापुरुषों, मनीषियों के वचनों को उन्हीं के शब्दों में सुनाऊँगा जिनकी पुस्तकों का अध्ययन, मनन करने से-जिनके पथ-प्रदर्शन से मुझे गीता-माता का जीवन-दर्शन समझ में आया और मेरी अनेकों शंकायें दूर हुईं।

उन सभी महापुरुषों और संतों के चरणों में मैं बारम्बार सादर प्रणाम निवेदित करता हूँ।

श्रीकिशोरलाल घनश्याम मशरूवाला अपनी पुस्तक **''गीता-मन्थन''** (प्रकाशक : नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद) में लिखते हैं—

गीता महाभारत का एक भाग है। सामान्यतः महाभारत को इतिहास कहा जाता है। लेकिन यदि इसे हम सामान्य अर्थ में इतिहास मानें तो भूल होगी। महाभारत इतिहास नहीं, बल्कि ऐतिहासिक काव्य है।

पाण्डवों और कौरवों के जीवन की कितनी ही मुख्य घटनाओं का वर्णन करने के निमित्त कवि ने एक महाकाव्य के रूप में उसका निर्माण किया है। इसमें कविका यह उद्देश्य नहीं कि घटनाएं जिस रूप में घटी हों, उसी रूप में उनका वर्णन किया जाय। उसका उद्देश्य तो महाकाव्य रचनेका है और इस महाकाव्य के लिए कुरुवंश के युद्ध को विषय बनाना उसकी मुख्य योजना है।

इसमें जहाँ दो व्यक्तियों के बीच संवाद दिया गया है, वहाँ यह न माना जाय कि उन दो के बीच का संवाद किसी रिपोर्टर ने लिख लिया होगा और उसके आधार पर कवि ने महाभारत में उसका वर्णन किया होगा। काव्य का उद्देश्य लोगों का मनोरंजन करना तो होता ही है। इसलिए उसमें अद्भुत उपकथाएं, विविध रस, वर्णन आदि भी एकत्रित किये जाते हैं। सबके पीछे इतिहास का आधार होगा, ऐसा नहीं माना जाना चाहिये।

काव्य, कथा, पुराण आदि की रचना संवाद के रूपमें करने की परम्परा हमारे देश में बहुत पुरानी है। किसी घटना या स्थान का वर्णन करना हो, किसी प्रश्न पर चर्चा करनी हो, किसी विषय पर अपने सिद्धान्त पेश करने हों, तो हमारे देश के कवियों ने साधारणतया संवाद-पद्धति का ही आश्रय लिया है।

इसलिए यदि यह बताया गया हो कि अमुक बात धृतराष्ट्र ने पूछी और संजय ने उसका जवाब दिया, या अर्जुन ने पूछी और श्रीकृष्ण ने जवाब दिया तो उससे यह न समझा जाय कि वह प्रसंग किसी वैसी ही घटी हुई बात के आधार पर है, बल्कि उसे कवि की काव्य चतुराई ही समझना चाहिये।

गीता के सम्बन्ध में हमें इस ढंग से विचार करना चाहिये। हम गीता को श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में पढ़ते है, इसलिए यदि मानें कि श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच सचमुच ऐसा संवाद हुआ होगा और वह भी कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय तो यह उचित न होगा। हमें तो उसे कवि की काव्य चतुराई समझना चाहिये।

जीवन कैसा होना चाहिये, किस तरह बिताना चाहिये, इसके बारे में कवि ने अपने अन्तिम निर्णय भगवद्गीता में दिये हैं उस ढंग से महाभारत के किसी भी भाग में नहीं दिये गये हैं।

यह काम उन्होंने श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संभाषण की कल्पना करके किया है। श्रीकृष्ण और अर्जुन को महाभारत के प्रमुख पात्रों में माना जा सकता है। इनके चरित्र को महाभारत में सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है। ये दोनों महाभारत के सबसे ऊँचे पात्र हैं। इसलिए यदि कवि ने इन दो पात्रों के बीच बातचीत करवाकर अपने अन्तिम निर्णय की चर्चा की हो तो वह स्वाभाविक मार्ग ही माना जायगा।

महाभारत के युद्ध को लेखक ने इस संवाद का निमित्त-कारण बनाया है। व्यासजी को यह बतलाना है कि उन्होंने जो सिद्धान्त पेश किए हैं, वे जीवन की अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में भी लागू किये जा सकते हैं। गीता के आरम्भ में व्यासजी ने अत्यन्त विकट परिस्थिति निर्माण करके तथा उसमें अतिशय उच्च चरित्रवाले दो पात्रों को दाखिल करके जीवन के सिद्धान्त पेश किये हैं। हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि कौटुम्बिक युद्ध का यह निमित्त विषय को पेश करने की सुविधा के लिए ही है।"

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य अपनी पुस्तक **'भगवद्गीता'** (प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल नयी दिल्ली) में लिखते हैं—

"गीता महाभारत का एक प्रकरण है। इसका आरम्भ उस वर्णन से होता है जबकि अर्जुन दोनों पक्षों के लोगों को एक-दूसरे के वध के लिए युद्ध-भूमि पर खड़े देखकर उद्विग्न हो उठा था। इस प्रसंग के साथ कृष्णार्जुन-संवाद के रूप में

हिन्दू-धर्म की व्याख्या की संगति बैठाई गयी है। कृष्ण सम्पूर्ण गीता में स्वयं परमात्मा के रूप में बात करते हैं।

कुरुक्षेत्र के युद्ध को अक्षरशः स्वीकार करने और उसके आधार पर ही गीता का अर्थ लगाने से विद्यार्थी गीता को सही रूप में न समझ सकेंगे, उल्टे उनके भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना है। यह सच है कि गीता की शिक्षा समस्त विश्वपर लागू होती है, इसलिए वह महाभारत के प्रसंग के लिए भी उपयुक्त है और उससे अर्जुन की समस्याओं तथा संशयों का हल हो जाना स्वाभाविक है; परन्तु यदि हम इस विशेष दृश्य के ही वशीभूत हो गए और विशेष को लेकर अर्थ निकालने लगे तो उस शिक्षा को ठीक तरह से न समझ पायेंगे। संस्कृत साहित्य में महान ग्रन्थों को इस प्रकार की पीठ-भूमिका से प्रारम्भ करने की साधारण पद्धति है। सनातन धर्म के एक ग्रन्थ के रूप में गीता का अध्ययन करते समय हमें युद्धभूमि का दृश्य भुला देना चाहिए।''

स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं—

''रणक्षेत्र में, जहाँ विशाल सेना ब्यूहबद्ध खड़ी हो और लड़ने के लिए सन्नद्ध हो, बस अन्तिम संकेत की प्रतीक्षा कर रही हो, ज्ञान, भक्ति और योग के विषय में इतनी अधिक चर्चा कैसे हो सकती थी? और क्या रणक्षेण के कोलाहल और खलबली में कृष्ण तथा अर्जुन के संवाद के प्रत्येक शब्द को नोट करने के लिए वहाँ कोई शीघ्रलिपिक उपस्थित था?

कुछ लोगों का कहना है कि कुरूक्षेत्र युद्ध केवल एक रूपक है। जब हम उसके गुह्य अभिप्राय का सारांश निकालते हैं, तो उसका अर्थ उस युद्ध से होता है, जो निरन्तर मनुष्य के अन्त:करण में उसकी दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों में हो रहा है।

डॉ. कर्णसिंह जी अपनी पुस्तक **'हिन्दू-धर्म नई चुनौतियाँ'** (प्रकाशक: राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) में कहते हैं—

हमें इस महान ग्रन्थ से शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। भगवान् कृष्ण की बांसुरी आज भी बज रही है। ऐसा नहीं है कि उन्होंने वृन्दावन में ही बांसुरी बजाई थी। यदि आप में सामर्थ्य है तो आज भी उस बांसुरी की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ेगी। हमारा दुर्भाग्य यह है कि घृणा और लोलुपता, ईर्ष्या, काम और विभिन्न परस्पर विरोधी भावनाओं ने हमारी सुनने की वह क्षमता हमसे छीन ली है। लेकिन गीता में एक बात स्पष्ट है और श्री अरविन्द की टीका में एक मुख्य बात यह कही गयी है कि परमात्मा वह नहीं है कि उसका अस्तित्व इतिहास के किसी मोड़पर ही हुआ हो। दैवी शक्ति आज भी विद्यमान है। कुरूक्षेत्र आज भी हैं। यह हरियाणा के किसी क्षेत्र का नाम नहीं हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति के मन में इसका अस्तित्व है। हमारे मन में ही कुरूक्षेत्र है, वहीं पर दैवी और आसुरी शक्तियों का परस्पर संघर्ष हो रहा है। हमारे मन में ही सारथी के रूप में भगवान कृष्ण हैं जो हमें लक्ष्य तक

पहुँचाने के लिए तैयार हैं लेकिन हममें इतनी सामर्थ्य होनी चाहिये कि उनकी शक्ति और उनके प्रकाश को ग्रहण कर सकें।

डा. रोहित मेहताजी अपनी पुस्तक **'प्रज्ञाके पथ पर'** (प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी) में लिखते हैं—

"भगवद्‌गीता का हृदयस्पर्शी सन्देश उसके प्रथम अध्याय से ही प्रारम्भ होता है। गीता के अनेक व्याख्याकारों ने इस प्रथम अध्याय को विशेष महत्त्व नहीं दिया है; क्योंकि उनकी धारणा है कि इस महान और सर्वाभौम धर्मग्रन्थ के मूल विचार से इस प्रथम अध्याय का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि यह सही है कि प्रथम अध्याय युद्धक्षेत्र के वर्णन से भरा है तथापि गीता द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन की वास्तविक पृष्ठभूमि का दर्शन इस युद्धक्षेत्र के विस्तृत चित्र में ही होता है। वस्तुस्थिति यह है कि गीता जिस जीवन-पद्धति का प्रतिपादन करती है उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव के अन्तःकरण से, उसकी मनोदशा से है। मानव के अन्तःकरण में नित्य संघर्ष जारी है। कुरूक्षेत्र युद्ध पाँच हजार वर्ष पहले लड़ा जा चुका है, सो बात नहीं; मानव की मनोभूमि में प्रतिदिन, प्रतिक्षण वह युद्ध चल रहा है। अतः गीता के प्रथम अध्याय में चित्रित रणक्षेत्र का विवरण मानव के अन्तःकरण का ही प्रतिबिम्ब है जहाँ कि सत् और असत् का सतत संग्राम जारी है।"

स्वामी अड्गड़ानन्द जी अपनी पुस्तक **'यथार्थ गीता'** (प्रकाशक : श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट, मध्य प्रदेश) में लिखते है—

"गीतोक्त युद्ध तलवार, धनुष, बाण और फरसे से लड़ा जानेवाला सांसारिक युद्ध नहीं है। यह सत्-असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष है। जिसके रूपकात्मक वर्णन की परम्परा रही है। यह संघर्ष जहाँ होता है, वह स्थान कहाँ है? गीता का धर्मक्षेत्र और कुरूक्षेत्र भारत का कोई भू-खण्ड नहीं, बल्कि स्वयं गीताकार के शब्दो में—'इदं शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभि धीयते।' यह शरीर ही क्षेत्र है।"

अब दूसरी महत्त्वपूर्ण बात हमें यह समझना है कि गीता में स्वयं ईश्वर मनुष्य से बातकर रहा है। कृष्ण-अर्जुन संवाद ईश्वर से मनुष्य का सीधा सम्पर्क है। बेतार का (वायरलेस) सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

१२।८

मुझमें मन लगा, मेरे में ही बुद्धि को लगा इससे तू मेरे को ही प्राप्त होगा इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।

१८।६५

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

मय्येव, मयि, मन्मना, मद्भक्तो, मां, मच्चितः मत्कर्मकृत् मत्परमः मत्परायण, मत्प्रसादात् मदर्थम् मदाश्रयः— ये सभी शब्द उस अन्तर्यामी तथा घट-घटवासी पुराण-पुरुष, अनन्त, जगन्निवास, अक्षर, पुरुषोत्तम, विश्वेश्वर के लिए प्रयुक्त हुए हैं जिसका आदि अन्त या मध्य नहीं है,

जिसकी शक्ति अनन्त है जो विश्वमूर्ति है जो सर्वलोक महेश्वर है और इतना सब होते हुए भी जो सुहृदं सर्वभूतानां- प्राणिमात्र का हितैषी है।

ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है। गीतामाता कहती हैं।

'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। १३।१७।

सबके हृदय में स्थित है।

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' १५।१५

मैं सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। १८।६१

अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है।

इस बात को स्पष्ट समझिये कि गीता में ऐतिहासिक कृष्ण ऐतिहासिक अर्जुन से बात नहीं कर रहे हैं बल्कि हृदय

में प्रतिष्ठित अर्न्तयामी परमेश्वर, शान्ति सुख और कल्याण की खोज करने वाली जीवात्मा से वार्तालाप कर रहा है।

हरेक मनुष्य के हृदय में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण विराजमान हैं और वे सबके हितैषी सबके हितचिन्तक पुरुषोत्तम उस जीवात्मा को कल्याण मार्ग बताने को प्रस्तुत हैं जिसे उसे जानने की इच्छा है और जो विनम्रभाव से उस दयामय की शरण जाता है।

यदि हम इन्द्रियनिग्रही, संयमी और विनयी हों तथा विषाद, उद्विग्नता और कर्तव्यविमूढ़ता के समय उस अर्न्तयामी पंरब्रह्म परमेश्वर से—चाहे उसे हम श्रीकृष्ण, श्रीराम या किसी नाम से पुकारें (क्योंकि उसके तो सहस्त्रों नाम हैं,) मार्ग-दर्शन की प्रार्थना करें तो वह करुणानिधान हमें राह बतावेगा। उसकी आवाज को सुनने योग्य पात्र हमें बनना चाहिये।

श्री शिवानन्द जी अपनी पुस्तक **'गीता-रसामृत'** (प्रकाशन सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी) में लिखते हैं—

"जब यह समझ में न आ रहा हो कि क्या उचित है और क्या अनुचित तथा क्या कर्तव्य है, तब अन्तरात्मा की ध्वनि मार्गदर्शन करा देती है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल राग-द्वेषरहित निर्मल मन की ध्वनि ही दैवी ध्वनि होती है। जिसका मन राग-द्वेष से दूषित है, जिसके मन में वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति आसक्ति है, जिसे मान-अपमान और सुख-दुःख का भाव सताता है, उसे अन्तरात्मा की ध्वनि बहुत कठिनाई से सुनाई देती है।

जीवन एक संघर्ष है, जन्म से मृत्यु तक आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों से जूझने का उपक्रम है। संसार में जीवन-संघर्ष का शिक्षण देने के लिए गीता सर्वोत्तम ग्रन्थ है। गीता आत्मा-अनुशासन की साधना का उपदेश देकर मनुष्य को न केवल संघर्ष के लिए प्रेरित एवं सन्नद्ध करती है वरन उसमें उत्साह और प्रसन्नता जगाकर संघर्ष को सहज, सुगम, उत्साह वर्धक और आनन्द दायक भी बना देती है।''

अब मैं आपको पूज्य बापूजी महात्मा गाँधीजी के सूर्य किरणों के समान प्रकाशमान वचनों को सुनाऊँगा, जिन वचनों को पढ़कर मेरा अज्ञान-अन्धकार मिट गया। मुझे गीता समझमें आने लगी और गीता पढ़ने में रस आने लगा। क्रमशः मेरी एक के बाद एक शंकायें मिटती जा रही हैं और गीता-माता की अनुपम महिमा दृष्टिगोचर हुई है।

मैनें अब तक ऊपर जो कुछ लिखा है बापूजी के अनुभवी व पवित्र वचनों से उस पर पक्की मुहर लग जायेगी। पूज्य बापूजी **'गीता-माता'** (प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल) में लिखते हैं।

''अब गीता के अर्थ पर आता हूँ।

सन् १८८८-८९ में जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर-निरन्तर होते रहने वाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के

लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़ने के बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत-ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मनता। इसके प्रबल प्रमाण आदि पर्व में ही हैं। पात्रों की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान् ने राजा प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूल में ऐतिहासिक भले ही हों, परन्तु महाभारत में तो उनका उपयोग व्यास भगवान ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चाताप कराया है और दुःख के सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रन्थ में गीता शिरोमणि रूप में विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणों में से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ो के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना सम्भव नही है।

गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं। परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान् है, उसे भावी प्रजा अवताररूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है, न उसमें सत्य को आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।" जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणी से कृष्णरूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म में साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम अभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर रूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शान्ति नहीं मिलती। ईश्वररूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्म-ग्रन्थों का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नहीं रची, वरन् आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में छिट-पुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपों में, अनेक शब्दों में, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है **'कर्मफलत्याग'**।

इस मध्यबिन्दु के चारों ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि इसके आसपास तारा-मण्डल-रूप में सज

गये है। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है तथापि देह को प्रभु का मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपादित किया है; परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो हैं ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबन्धन में से अर्थात् दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है—"निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर में होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफल-त्याग कहनेभर से नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदय-मन्थन से उत्पन्न होता है। यह त्याग शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो बहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हें कण्ठ होते हैं; परन्तु उनमें से अधिकांश भोगादि में लगे-लिपटे रहते है। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पांडित्य के रूप में न हो जाय, इस ख्याल से गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्ति का ज्ञान हानिकारक है। इसलिए कहा गया, 'भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।' पर भक्ति तो 'सिर का सौदा' है, इसलिए गीताकार ने भक्ति के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीता की भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीता में बताये उपचार का वाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम सम्बन्ध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि

साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं। जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है और ममता रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये है, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो शोक-हर्ष-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखने-वाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषों में सम्भव नहीं है।

इसमें से हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रूपये के बदले में जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति के बदले बन्धन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह सम्भव नहीं है। यहाँ तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नहीं तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है, वही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शान्ति है।

किन्तु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्म-फल-त्याग की कसौटी पर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित

भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नहीं रहता। यज्ञशून्य जहाँ ज्ञानी गिना जाय वहाँ लोटा उठाने जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पना में भक्त से मतलब है बाह्याचारी, माला लेकर जप करने वाला। सेवा-कर्म करते भी उसकी माला में विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग-भोगने के समय ही माला को हाथ से छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गों को गीता ने साफतौर से कह दिया, "कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुये। यदि मैं भी आलस्य रहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोकों का नाश हो जाय।" तो फिर लोगों के लिए पूछना ही क्या रह जाता है?

परन्तु एक ओर से कर्ममात्र बन्धनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएं कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहे? जहाँ तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्म-ग्रन्थों ने नहीं किया है। गीता का कहना है, "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो', "आशारहित होकर कर्म करो', निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीता की वह ध्वनि है, जो भुलाई नंहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता

है, वह चढ़ता है। फल-त्याग का यह अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी है।

पर यहां फलत्याग का कोई यह अर्थ न करें कि त्यागी को फल मिलता ही नहीं। गीता में ऐसे अर्थ को कहीं स्थान नहीं है। फलत्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव में देखा जाय तो फलत्यागी को तो हजारगुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो अपरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है, वह बहुत बार कर्म-कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य कर्म करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है। परिणाम की चिन्ता करने वाले की स्थिति विषयांध की-सी हो जाती है। और अन्त में वह विषयी की भांति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड़ देता है, और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामों में से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफलत्याग का सिद्धान्त निकाला और संसार के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा। साधारणतः

तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार में धर्म नहीं बचाया जा सकता, धर्म को जगह नहीं हो सकतीं, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ।" बहुतों से ऐसा कहते हम सुनते हैं। गीताकार ने इस भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहार में धर्म को उतारा है। जो धर्म-व्यवहार में न लाया जा सके, वह धर्म नहीं हैं, मेरी समझ से यह बात गीता में है। मतलब गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं। ऐसा सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म-संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शान्ति उत्पन्न होती है।

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार में लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पड़ता है। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती हैं। गीता-काल के पहले भी अहिंसा परम धर्म रूप मानी जाती थी, पर गीता को तो अनासक्ति के सिद्धान्त का

प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। परन्तु यदि गीता को अहिंसा मान्य थी, अथवा अनासक्ति में अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है, तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप में भी क्यों लिया? गीता-युग में अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध सर्वमान्य वस्तु होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था''

३

लाखों करोड़ो व्यक्ति गीता-पाठ करते हैं, पर बहुत कम लोग गीता के सन्देश को समझते हैं। उनमें अधिकतर तो ऐसे हैं जो बारहवें या पन्द्रहवें अध्याय का नित्य पाठ भर कर लेते हैं। अन्य लोग प्रतिदिन एक-एक अध्याय करके पूरी गीता का पाठ कितने वर्षो से कर रहे हैं।

कुछ अन्य लोग यह मान बैठे है कि गीता वृद्ध स्त्री-पुरुषों या सन्यासियों के पढ़ने के लिए है।

कुछ वर्षो पहले की बात है, मेरे पास एक अखिल भारतीय कम्पनी के ब्राँच मैनेजर आए। उनके हाथ में अंग्रेजी की मोटी पुस्तक थी। सम्भवत: कोई उपन्यास था। मेरे पास बैठे। अन्य बातों के बाद मैनें उनसे कहा कि आप पुस्तक पढ़ने के शौकीन मालूम पड़ते हैं, क्या आपने श्रीमद्‌भगवतगीता पढ़ी हैं? वे तुरन्त बोले 'मैं गीता जरूर पढूँगा पर रिटायर होने के बाद' ५८ वर्ष पूरा होने पर मैं सर्विस से अवकाश ग्रहण करुँगा तब गीता पढूंगा।''

इस तरह का विचार एकदम गलत है। गीता बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सबके लिए सब समय अत्यन्त उपयोगी है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रास्थ और सन्यासी इन चारों में गीता सबसे उपयोगी किसके लिए है ऐसा प्रश्न कोई करे तो उत्तर में यही कहना होगा कि गृहस्थ के लिए।

गीता की शिक्षा को हृदयंगम करने के लिए गीता के अवतरण के वाातावरण का चिन्तन कीजिये।

गीता का आगमन दोनों सेनाओं के मध्य में हुआ। कोलाहल के बीच हुआ। अर्जुन कुरूक्षेत्र में कर्मक्षेत्र में प्रवेश ही कर रहा था कि उसे मोह हुआ-विषाद हुआ। तब श्रीभगवान् ने गीता सुनाकर उसका मोह और विषाद दूर किया। गृहस्थाश्रम, जीवन में कुरुक्षेत्र, कर्मक्षेत्र का प्रतीक है। जब मनुष्य कर्मक्षेत्र में उतरता है उसी समय यदि कोई योग्य मार्ग-दर्शक मिल जाय तो मनुष्य सही रास्ते पर चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले।

जीवन-संग्राम बहुत सरल नहीं है। पग-पग पर बाधाएं और प्रलोभन आते हैं। बुद्धिमान भी जरा असावधान रहा तो कर्तव्य-पथ से भटक जाता है। भटक कर जब वह गलत रास्ते पर चलने लगता है तो कभी भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता।

गीता मार्ग-निर्देशिका है। सही रास्ता बताने वाली माता है। गीता कहती है कि कर्मक्षेत्र में तुम्हें जो स्वधर्म प्राप्त हुआ है उसे अनासक्त भाव से सम्पन्न करो। कितनी भी परेशानी और उलझने आवें-कर्मक्षेत्र से पलायन की बात मत सोचो।

कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाओं। प्रवृत्ति को त्यागो मत! प्रवृत्ति को परमार्थ की तरफ मोड़ दो।

माता-पिता अभिभावक तथा अध्यापक को चाहिये कि वे १४ वर्ष की आयु में ही बालक बालकाओं का गीता-माता से परिचय करा दें। और इस बात का सतत् प्रयत्न करें कि बालकों की आयु बढ़ने के साथ-साथ गीता-माता से उनकी घनिष्ठता बढ़ती जाय। ऐसा तो तभी सम्भव होगा जब माता-पिता व अभिभावक, गीता की महिमा जानते हों। १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं को गीता-माता से परिचय कराने का मेरा मतलब यह है कि उन्हें बारहवें अध्याय के बीस श्लोक या किसी अन्य अध्याय के १०।२० श्लोक कंण्ठस्थ करा दिए जाय और उनके सामने बार-बार इस बात को तरह-तरह से दोहराया जाय कि गीता हमारी समस्त समस्याओं को सुलझाती है और गीता का भक्त कभी चिन्ता फिक्र नहीं करता। कभी निराश नहीं होता। सदा आनन्द में रहता है। बालकों में गीता-माता में दिलचस्पी पैदा करना अभिभावक की पुनीत जिम्मेदारी है।

गीता हमें समझ मे इसलिए नहीं आती क्योंकि उसे समझने के लिए जो श्रद्धा तत्परता तथा संयमी जीवन चाहिये उसे हम अपनाते नहीं। गीता को हम उपन्यास या कथा-कहानी की तरह पढ़कर समझ लेना चाहते हैं। इस तरह की मनोवृत्ति से गीता कभी समझ में नहीं आवेगी। हमें गीता को दो-चार बार नहीं दो सौ-चार सौ बार पढ़ने की श्रद्धा होनी चाहिए।

गीता-माता कहती हैं कि श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है।—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।४।३९

जिस व्यक्ति में श्रद्धा है तथा जिसे ज्ञान प्राप्त करने की लगन है और जो जितेन्द्रिय है वह ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त कर परम शान्ति को प्राप्त करता है।

उपरोक्त श्लोक पर विवेचना करते हुए श्री रामकृष्ण मिशन रायपुर के स्वामी आत्मानन्द जी लिखते हैं—

'श्रद्धा से युक्त, लगनशील और संयमी व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है।

श्रद्धा अन्तःकरण की उस वृत्ति का नाम है, जो मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान दोष दर्शन की प्रवृत्ति को रोकती है। यदि मैं किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखता हूँ, तो उसमें दोष देखने की वृत्ति मुझमें कभी नहीं उठेगी।

पर मात्र श्रद्धावान होने से काम नहीं बनता। व्यक्ति को तत्पर लगनशील होना चाहिये। साधना के प्रति उसकी निष्ठा होनी चाहिये। श्रद्धा होने के बावजूद यदि उसमें साधना के लिए तत्परता न हो तो सिद्धि दूर ही रहेगी। कुछ साधक श्रद्धावान तो होते हैं, पर उनमें साधना के लिए उत्साह नहीं होता, वे आलसी और असंयमी हो जाते हैं।

व्यक्ति में श्रद्धा है और तत्परता भी, पर यदि उसकी इन्द्रियाँ वश में न हो, तब भी वह लक्ष्य से दूर ही रहेगा। इन्द्रियों का असंयम मनुष्य को विषयों में फंसा देता है, जिससे उसकी साधना की तत्परता धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं। साधना का तात्पर्य है अन्तर्मुखी होने का अभ्यास और इन्द्रिय-भोग मनुष्य को बहिर्मुखी बनाते हैं। इसलिए साधक को संयमी होना चाहिये, उसे अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये। इन्द्रिय-भोग घड़े के छिद्र के समान है, जो घड़े को जल से नहीं भरने देता, फिर कितना भी पानी उसगें क्यों न भरा जाय। हममे भले ही बहुत श्रद्धा हो और साधन के लिए लगन भी बहुत हो, पर यदि हममें इन्द्रिय-निग्रह न हो तो साधना का सारा जल बह निकलेगा। पर जब ये तीनों अन्तरंग साधन मनुष्य के जीवन में इकट्ठे होते हैं, तब वह ज्ञान-लाभ करने में समर्थ होता है।''

गीता को समझने में हमें अधीर नहीं होना चाहिये। गीता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। गीता में जिस युद्ध का उल्लेख हुआ है और जिस युद्ध को आधार बनाकर इस महान धर्मशास्त्र की रचना की गयी है वह हजारों वर्ष पूर्व इस पृथ्वी पर शस्त्रों द्वारा लड़ा जाने वाला युद्ध न होकर मानव हृदय में होता रहने वाला वह युद्ध है जो बुराई और भलाई के बीच सतत होता रहता है। तो आइये संयमी जीवन बिताते हुए हम आप मिलकर श्रद्धा और लगन से गीता-माता को पढ़ें और मनन करें, पाँच बार, दस बार, सौ बार और बारम्बार पढ़े। श्री भगवान की कृपा से गीता जरूर समझ में आवेगी।

संयमी-अंसयमी जीवन

गीताकार ने कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।२।६९

इस श्लोक का हिन्दी समश्लोकी अनुवाद इस प्रकार हुआ है—

निशा जो सर्वभूतों की, संयमी जागते वहाँ।
जागते जिसमें अन्य, वह तत्त्वज्ञ की निशा ।।

उपरोक्त श्लोक का शब्दार्थ है—

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जाग्रत रहता है। जब सब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है।

इस श्लोक में श्रीभगवान् ने संयमी और असंयमी के चिन्तन, कार्य और भावना का काव्यात्मक वर्णन किया है।

भौतिकवादी और अध्यात्मवादी मनुष्य का चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार बिल्कुल भिन्न होता है। भौतिकवादी लोग जो सोचते तथा करते हैं, मुनि का चिन्तन और आचरण उससे उल्टा होता है।

भौतिकवादी और अध्यात्मवादी मनुष्य के चिन्तन, कार्य व व्यवहार में बड़ा अन्तर होता है। इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गीता में सोने और जागने की उपमा दी गयी है।

भोगी मनुष्य रात के बारह-एक बजे तक विविध मनोरंजन के कार्यों में अपना समय बिताते हैं और सुबह ७,८ तक सोते रहते हैं। संयमी रात को नौ बजे सो जाता है और सुबह ४-४।। बजे उठकर ईश्वर का चिन्तन, भजन करता है। भोगी संसार का प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वर को भूलता है। संयमी सांसारिक प्रपंच को यथासाध्य सीमित रखकर अपना अधिकांश समय ईश्वर स्मरण व सेवा में लगाता है। संयमी न्यायोचित ढंग से धनोपार्जन करता है। भोगों में धन का अपव्यय नहीं करता। सादा सरल जीवन जीता है। सादगी से रहकर जो धन बचाता है उसका उपयोग परमार्थ में करता है।

साधक भोगों से अपना मन हटाये रखता है। सद्विचार सत्कर्म और सत्संग में निरत रहकर मन को भोग चिन्तन का समय ही नहीं देता। भोगी भोगों के भोगने में ही जागता-सोता है जबकि साधक भोगों के त्याग में ही जागता-सोता है। भोगी मनुष्य विषयों के साधन जुटाने और उनके भोगने में जागरूक रहता है, योगी विषयों के साधन हटाने और ईश्वर के चिन्तन में ही जागरूक रहता है। जिन विषयों में भोगी का मन रमता है, वे ही विषय योगी को बिल्कुल फीके-फीके नीरस लगते हैं।

उपनिषद् हमसे कहते हैं—'उठो, अज्ञान-निद्रा से जागो और श्रेष्ठ पुरुष के पास जाकर बोध प्राप्त करो। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'।

संयमित जीवन जागता जीवन है और असंयमित जीवन सोता-जीवन है।

संसार में बहुत से स्त्री-पुरुष ऐसे भी है जो संयमी के साथ रहने पर संयमी-जीवन की ओर झुकते हैं और असंयमी के साथ रहकर असंयमी जीवन के विविध भोगों में रस लेने लगते हैं। ऐसे अस्थिर चित्त लोगों को संयमी का संग करने का सतत प्रयास करना चाहिए। सन्तोषी, संयमी, सदाचारी सज्जन का संग करना ही सत्संग करना है।

मानस में वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

कबहुँ दिवस मंह निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग।।

कभी (बादलों के कारण) दिन में घोर-अन्धकार छा जाता है और कभी सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है। जैसे कुसंग पाकर ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसंग पाकर उत्पन्न हो जाता है।



प्रवृत्ति-निवृत्ति

गीता कहती है कि हमें सांसारिक जीवन को ही आध्यात्मिक जीवन बना लेना है। प्रवृत्ति के भीतर निवृत्ति है। प्रवृत्ति की सीमा रेखा पार करते ही निवृत्ति नहीं प्राप्त हो जाती। घर में रहते हुए, घर के कामों को करते हुए, ज्यों ज्यों अनासक्ति बढ़ती जाती है और कर्मफल प्राप्ति की लालसा घटती जाती है त्यों त्यों निवृत्ति बढ़ती जाती है। गृहस्थ का घर ही, गृहस्थ का समाज ही वह धर्मक्षेत्र है, कुरुक्षेत्र है जहाँ उसे जीवन संग्राम लड़ना है। गृहस्थ का घर ही उसकी तपोभूमि है जहाँ उसे अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, अक्रोध, अस्वाद और अनासक्ति की साधना करनी है। जो निष्काम कर्म करता है, यज्ञार्थ कर्म करता है, परोपकार के कर्म करता है वह प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त है। घर में रहने से प्रवृत्ति बढती है और आश्रम में या वन में जाकर निवास करने से निवृत्ति प्राप्त होती है—ऐसा नहीं है। घर में रहते हुए निवृत्ति बढ़ाई जा सकती है और आश्रम में जाकर रहने पर भी प्रवृत्ति पकड़े रह सकती है।

पूज्य गाँधी जी लिखते है—"मैं निवृत्ति धर्म को मानता हूँ। परन्तु यह निवृत्ति प्रवृत्ति में छिपी हुई होनी चाहिये। देह-

मात्र प्रवृत्ति के बिना पल-भर भी टिक नहीं सकता, यह स्वयं सिद्ध वस्तु है। प्रत्येक सांस जो हम लेते हैं प्रवृत्ति-सूचक है, वहाँ निवृत्ति का अर्थ यही हो सकता है कि शरीर निरन्तर प्रवृत्ति में रहने पर भी आत्मा निवृत्त रहे, अर्थात् उसके विषय में अनासक्त रहे। निवृत्ति-परायण मनुष्य सिर्फ परमार्थ के लिए ही अपनी प्रवृत्ति जारी रखे। अनासक्त रहकर परमार्थ के लिए की गयी प्रवृत्ति ही निवृत्ति है।'

जो कार्यक्षेत्र से, कर्मक्षेत्र से हट जाता है, वह गीता-ज्ञान का उपयोग कैसे करेगा? इसका उपयोग तो कर्मक्षेत्र में करना है, संसार में रहकर करना है। हमें गीता-ज्ञान द्वारा कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना है।

एक दूसरे अवसर पर पूज्य गाँधी जी ने लिखा 'संसार का ज्ञानपूर्वक त्याग ही मोक्ष प्राप्ति है। संसार का पूर्ण त्याग हिमालय के शिखर पर चले जाने में भी नहीं है। हृदय की गुफा सच्ची गुफा है, उसमें छिपकर और सुरक्षित रहता हुआ मनुष्य संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहकर अनिवार्य प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए विचरण कर सकता है।

गीता बताती है कि मनुष्य अपने व्यापार, पेशे या किसी भी स्वकर्म द्वारा ईश्वर की पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।१८।४६

जिससे समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है उस परमात्मा की स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

जो काम हम करते हैं अगर वह विहित कर्म है तो उसी को हमे निष्ठा से, सच्चाई से, यज्ञार्थ करना चाहिये। चोरी, कपट, धोखा, हिंसा, व्यभिचार आदि नीच कर्म किसी का स्वकर्म नहीं हो सकता। ये अविहित कर्म है, निषिद्ध कर्म हैं, पाप कर्म हैं।

गीता अध्यात्म-साधक से वन में जाकर तपस्या करने को नहीं कहती। विहित कर्म छोड़ने को नहीं कहती, बल्कि विहित कर्मों को समाज के हित की भावना से करने को कहती है। कर्तव्य-कर्मों को अनासक्त भाव से यज्ञार्थ करने को कहती है। गीता ने सिद्धि को हमारे दरवाजे पर लाकर खड़ा कर दिया है। हमें सिद्धि को खोजने जंगल में या आश्रम में नहीं जाना है। हमें स्वकर्म द्वारा जगत में व्याप्त ईश्वर की पूजाकर सिद्धि को प्राप्त कर लेना है। हमारा व्यापार, हमारा पेशा ही ईश्वर की पूजा का साधन बन जाय।

जो निष्काम कर्म करता है, कर्मयोगी है, वह प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त है। साधक की प्रवृत्ति का लक्ष्य भोग नहीं योग होना चाहिये। प्रवृत्ति स्वार्थ के लिए न होकर परमार्थ के लिए हो। प्रवृत्ति को त्यागना नहीं, उसका रुख-बदल देना है। शरीर को कर्मक्षेत्र से हटा लेने से निवृत्ति नहीं आ सकती। कर्मयोग के आचरण से निवृत्ति आती है।

वैराग्य के लिए गृहस्थ जीवन का त्याग आवश्यक नहीं। ममता और आसक्ति का त्याग आवश्यक है। विरक्त कर्तव्य कर्मों का त्याग नहीं करता, पर कर्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक करते हुए अनासक्त रहता है।



कर्तव्य कर्म की अनिवार्यता

कर्म से पलायन मनुष्य को निष्क्रिय और आलसी बना देता है। कर्म बन्धन के कारण हैं ऐसा सोचकर कर्म का त्याग करना अनुचित है। सदाचारी सत्पुरुष कर्तव्य कर्म से उदासीन हो जाय और कर्तव्य कर्म का त्याग कर बैठे तो दुष्टजन उनकी स्वार्थ सिद्धि के लिए वर्जित आचरण करेगा। इसीलिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को निमित्त बनाकर मनुष्य मात्र को उपदेश दिया कि कर्म का त्याग अनुचित है निन्दनीय है। स्वार्थरहित रहकर मनुष्य को स्वकर्म में प्रवृत्त रहना चाहिये। अनासक्त भाव से सतत नियत कर्मों को करते रहना चाहिये।

श्री भगवान् ने अर्जुन के मोह और विषाद को दूरकर उसे कर्तव्यकर्म में प्रवृत्त किया।

ईश्वर ने मानव-जीवन की रचना ही ऐसी की है कि मनुष्य को निरन्तर कार्यरत रहना पड़ता है। रात्रि को विश्राम के समय भी हृदय की धड़कन चलती रहती है।

उपनिषदों की रचना ऋषियों द्वारा अरण्य में, वन में रहकर हुई। पर गीता धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में गायी गयी। गीता कर्मक्षेत्र में कही गयी। गीता का अवतरण दोनों सेनाओं के मध्य हुआ, संसार के कोलाहल के बीच हुआ।

गीता के जीवन-दर्शन को समझने के लिए गीता के अवतरण की भूमिका को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। गीता हमें संसार से भागकर जंगल में या आश्रम में जाकर शान्ति खोजने को प्रोत्साहित नहीं करती। गीता आग्रह करती है कि संसार के कोलाहल और उथल-पुथल के बीच शान्त-चित्त रहकर स्वधर्म पालन में तत्पर रहो।

गीता के दूसरे अध्याय में हम उस शिखर का दर्शन करते हैं, उस ऊँचाई का दर्शन करते हैं जहाँ तक मनुष्य प्रयत्न करके चढ़ सकता है। उस दिव्य जीवन की झांकी पाते हैं जिसके द्वारा मनुष्य सदा स्थिर रहने वाली शान्ति को पा सकता है। उस समाधिस्थ स्थिति का दर्शन करते हैं। जो ब्रह्मचारी को, गृहस्थ को, नर को नारी को, काले को गोरे को, मानव मात्र को इसी जीवन में अपने घर में रहते, अपने निियत कर्मों को करते हुए प्राप्त हो सकती है। गीता की समाधि सहज समाधि है। चलते-फिरते संसार के समस्त कर्तव्य कर्मों को करते हुए यह समाधि टूटती नहीं।

गीता ब्रह्मविद्या है और कर्मयोग शास्त्र भी। गीता का अर्जुन प्रतिनिधि है उन मनुष्यों का जो इस संसार में दैवी सम्पदा को लेकर जन्म लेते हैं। वे अपने हिस्से में प्राप्त विविध कर्मों को करने में प्रवृत्त होते हैं, पर आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को अपने स्वार्थ के लिए खींचा-तानी करते देखकर उन्हें संसार के कोलाहल से भागकर शान्त अकर्ममय जीवन बिताने का मोह होता है। वे समझते हैं कि वे कर्मक्षेत्र,

रणक्षेत्र से भागकर किसी आश्रम में संन्यासी का जीवन बिताकर पाप से बच जायेंगे। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वे श्रीभगवान् की शरण जाते हैं और श्रेय का रास्ता पूछते हैं। श्रीभगवान् उन्हें बताते हैं कि कर्म का त्याग करने मात्र से कोई सन्यासी नहीं हो जाता। जो कर्मफल का आश्रय लिए बिना, कर्मफल की चाह न रखकर निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म का आचरण करता है वही संन्यासी है और वही योगी है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।६।१

जो मनुष्य सब कर्मों को परमात्मा को अर्पण करके आसक्ति रहित होकर कर्म करता है वह जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।५।१०

कर्मफल की आसक्ति रखने पर मनुष्य को अनुकूल परिस्थिति में आशा और उत्साह होता है पर प्रतिकूल परिस्थिति में निराशा, शिथिलता और चिन्ता घेर लेती है। इन दोनों स्थितियों में मनुष्य का सन्तुलन बिगड़ता है। सफलता मिलने पर उसमें अहंकार बढ़ता है और विफल होने पर विषाद घेरता है। चित्त की शान्ति को दोनों परिस्थितियां प्रभावित करती हैं। कर्मफल को ईश्वर के अधीन मान और

जान लेने पर हर परिस्थिति में मनुष्य सन्तुलित और सम रह सकता है। सफलता में इतराता नहीं, असफलता में विचलित नहीं होता। उसकी प्रसन्नता और ईश्वर पर विश्वास हर समय बना रहता है।

गीता उपयोगी समृद्ध जीवन जीने की कला सिखाती है। क्रियाशील जीवन से विमुख करने वाली वैराग्य साधना को कभी भी प्रोत्साहन नहीं देती।



गीता-दिव्य जीवन जीनेकी मार्ग दर्शिका

गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी है। उपनिषदों को दुह कर गीता रूपी दूध श्रीभगवान ने अर्जुन के निमित्त से अपने भक्तों को दिया है।

गीता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। आध्यात्मिक सत्य को हृदय में बैठाने के लिए गीता भौतिक युद्ध की उपमा का आश्रय लेती है। हमारे हृदय में सद्वृत्तियों की और पाप वृत्तियों की, सद्गुणों की और दुर्गुणों की, पाण्डवों की और कौरवों की लड़ाई निरन्तर चल रही है। इस लड़ाई का चलते रहना ही जीवन है। श्रीभगवान् का स्मरण करते हुए इस लड़ाई को निरन्तर लड़ते रहना चाहिये। श्री भगवान् कहते हैं—'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' इसलिए सदा मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध करता रह। कोई भौतिक युद्ध सर्वकाल नहीं चलता। महाभारत का युद्ध तो केवल १८ दिन चला। आधुनिक काल में होने वाले प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध बहुत दिनों चलें। फिर भी ४-६ वर्ष चलकर समाप्त हो गये। पर मानव हृदय में होने वाला यह युद्ध निरन्तर चलता रहता है। जब हमारे हृदय में सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, और सदाचार के भावों की वृद्धि होती है तो समझिये पाण्डवों की जीत हो रही है। जब हमारे हृदय

में काम, क्रोध मोह, मद और मत्सर इत्यादि विकारों की, दुर्गुणों की वृद्धि होती है तो समझिये कौरवों की जीत हो रही है। इसी युद्ध में बुराई के ऊपर भलाई की, दुर्गुणों के ऊपर सद्गुणों की, कौरवों के ऊपर पाण्डवों की विजय कराना गीता का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने का उपाय भी गीता बताती है।

मनुष्य को राग-द्वेष त्यागकर, स्वधर्म का पालन करते रहना चाहिये। अनासक्तिपूर्वक अपने कर्तव्य कर्म में लगे रहना चाहिये।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।२।३८

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो। ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

अगर गीता अर्जुन के लिए ही कही गयी होती, अगर गीता अर्जुन को भौतिक युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए ही कही गयी होती तो फिर हमें आज गीता को श्रद्धा और लगन से पढ़ने की क्या जरूरत है। महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया अर्जुन भी मर गया। हमें कोई भौतिक युद्ध तो करना नहीं है—किसी युद्धक्षेत्र में हमें जाना नहीं है। पर बात ऐसी नहीं है। गीता हमसे कही जा रही है। श्रीभगवान् हम भक्तों को गीता सुना रहे हैं। जीवन संग्राम चल रहा है। विकारों

से, प्रलोभनो से हमें नित्य संघर्ष करना पड़ता है। विकार हमें कर्तव्य कर्मों को करने में बाधा पहुँचाते है। हमें अपने कर्तव्य का पालन नहीं करने देते। गीता कहती है कि स्वधर्म पालन में रूकावटें डालने वाली सभी बाधाओं से युद्ध करो।

गीता की शिक्षा हमारे दैनिक जीवन में बड़ी उपयोगी है। गीता हमारी प्रतिदिन की मार्ग दर्शक है। गीता हमें द्वन्द्वों को सहने की शिक्षा देती है। अनेक समस्याओं में उलझे किंकर्त्यविमूढ़ मान कर्तव्यविमूढ़ को सही रास्ता बताती है।

गीता सन्तुलित व्यवहारिक जीवन का निर्देश करती है। कुरूक्षेत्र से, कर्मक्षेत्र से भागो मत। कर्मक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाओं। प्रवृत्ति को त्यागने की चेष्टा मत करो। प्रवृत्ति करो-पर परमार्थ के लिए करो, स्वार्थ के लिए नहीं।

गीता का पदार्पण कुरूक्षेत्र में, कर्मक्षेत्र में हुआ। महाभारत के युद्ध के अवसर पर अर्जुन के अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ का सारथि होना स्वीकार कर लिया था। अर्जुन के कहने पर श्री कृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। स्वजनों और गुरुजनों को युद्ध के लिए खड़ा देखकर अर्जुन को मोह और विषाद होता है। उदास हो जाता है और श्री कृष्ण से कहता है 'मै इन लोगों से कैसे लड़ सकता हूँ। ये सब मेरे स्वजन हैं। इनको मैं मारना नहीं चाहता और न हीं मारूगां, भले ही वे मुझे मार डालें। ऐसा कह कर धनुष वाण त्यागकर अर्जुन रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

श्रीभगवान् ने कहा अर्जुन तू शोक न करने योग्य के लिए शोक करता है और पण्डित के से वचन बोलता है, परन्तु पण्डित तो जिनके प्राण चले गए हैं और जिनके प्राण नहीं गए हैं उन दोनों के लिए शोक नहीं करते। श्री भगवान ने देह और देही का भेद समझाया। आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। यह अजन्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर अनित्य है उसका नाश होना निश्चित है। जो अपिरिहार्य है उसके विषय में शोक करना उचित नहीं है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को कुरूक्षेत्र से पलायन करने को रोका और निष्काम कर्म करने की प्रेरणा दी। श्रीभगवान् ने कहा—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२।४८

हे धनंजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए, सफलता-असफलता में समान भाव रखकर तू कर्म कर। समभाव ही योग है।

तू नियत कर्म कर। कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। तेरे शरीर का निवार्ह भी कर्म बिना नहीं चल सकता।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।३।९

यथार्थ किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बन्धन पैदा होता है। इसलिए तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

तस्मादसक्तः सततं कार्यकर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।३।१९

इसलिए तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्तव्य कर्म का आचरण कर। ग्रनासक्त रहकर कर्म करता हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३।३०

अध्यात्मवृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्व को छोड़ संन्ताप रहित होकर तू युद्ध कर।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८।५६

मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है।

कर्म से पलायन मनुष्य को निष्क्रिय और आलसी बना देता है। कर्म बन्धन के कारण हैं ऐसा सोच कर कर्म का त्याग करना अनुचित है। निष्काम कर्मयोगी किसी स्वार्थवश

कर्म नहीं करता। वह यज्ञार्थ कर्म करता है। प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करता है। इसलिए उसके कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते।

कुरुक्षेत्र का युद्ध प्रतीक है उस आन्तरिक युद्ध का जो मानव देह में सक्रिय है हमारा शरीर कुरूक्षेत्र है। यदि हम इसे ईश्वर का निवास-स्थान मानकर अनासक्त होकर कर्तव्य कर्म करें तो यह धर्मक्षेत्र बन जाय। जीवन-संग्राम में जब मनुष्य राग-द्वेष के कारण अपने-पराये का भेद-भाव करने लगता है, तब वह मोहग्रस्त होने के कारण कर्तव्य कर्म का आचरण नहीं कर पाता।

व्यक्तिगत स्वार्थ रखे बिना, केवल परिवार, समाज या राष्ट्रहित की दृष्टि से कर्म करना ही भगवद्गीता में सुखी, शान्त जीवन का मार्ग बताया गया है। गीता बताती है कि अनासक्तिपूर्वक स्वधर्म का आचरण ईश्वर की उपासना ही है।

भीतर निश्चल शान्ति और बाहर सक्रियता तथा सत्कर्म! शान्तचित्त रखकर प्राप्त कर्मों को निस्वार्थभाव से सर्वांग सुन्दररूप से करना और सफलता-असफलता में चित्त की समता को बनाए रखना तथा सदा ईश्वर का स्मरण करते रहना गीता का उपदेश है।

मानव तनावों और द्वन्द्वों से तभी मुक्ति पावेगा जब वह गीता की अनासक्ति की शिक्षा को आचरण में ला सकेगा।

गीता दिव्य जीवन जीने की मार्गदर्शिका है।



गीता नित्य नवीन है

गीता कर्म भक्ति और ज्ञानकी त्रिवेणी है। गीता सर्वशास्त्रमयी है। उपनिषदों को दुहकर श्रीभगवान् ने गीता रूपी अमृत अपने भक्तों को दिया है।

गीता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। कुरुक्षेत्र का युद्ध प्रतीक है उस आन्तरिक युद्ध का जो मानव देह में सक्रिय है। हमारा शरीर कुरूक्षेत्र है तथा धर्मक्षेत्र भी। यदि हम अपने शरीर को ईश्वर का निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। नर-देह से ही धर्म की, आत्मदर्शन की साधना हो सकती है। इस शरीर के अन्दर भले और बुरे विचारों की, सद्गुणों की और दुर्गुणों की लड़ाई हमेशा चलती रहती है। दुर्गुणों का प्रबल होना कौरवों की जीत है। यह युद्ध समाप्त नहीं होता। जीवन संग्राम में जब मनुष्य राग-द्वेष के कारण अपने पराये का भेद करने लगता है तब अपने कर्तव्य कर्म का निर्णय नहीं कर पाता। अस्थिर-चित्त हो जाता है। विषादयुक्त हो जाता है। ऐसी विषम स्थिति में मनुष्य को गीता माता से मार्ग दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

अर्जुन के यह पूछने पर कि मनुष्य किसके द्वारा प्रेरित किये जाने पर पापकर्म कर बैठता है, श्रीभगवान् ने बताया कि विकार ही हमारे शत्रु हैं। इन्हीं का दमन करना चाहिये

और इन्हीं से सतत युद्ध करते रहना है। श्री भगवान ने कहा कि काम क्रोध और लोभ आदि विकार ही मनुष्य को पापकर्म की ओर ढकेलते हैं। ये मनुष्य के शत्रु हैं। ये बड़े बलवान हैं। जैसे मैल से दर्पण धुंधला हो जाता है, जैसे धूएँ से अग्नि ढक जाती है, जैसे झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही इन विकारों से मनुष्य का ज्ञान, ढ़क जाता है। ये विकार मनुष्य की इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जबरन पाप-कर्म की ओर प्रवृत्त कर देते हैं। इसलिए मनुष्य को इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण रखना चाहिये। इन्द्रियों से मन परे और बलवान है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ और बलवान है। और आत्मा तो इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से अत्यन्त परे, श्रेष्ठ और बलवान है। मनुष्य को आत्मा की शक्ति का भान नहीं, इसलिए वह यह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती, मन वश में नहीं रहता। आत्मा की शक्ति का भान होते ही विकारों को वश में करने की सामर्थ्य आने लगती है।

मनुष्य को चाहिये कि आत्मा की पूरी ताकत से विकारों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करे। उसे थोड़ी सफलता जरूर मिलेगी। पर पूरी सफलता तो ईश्वर की कृपा से ही मिलेगी। जब मनुष्य विकारों से लड़ने में अपने को प्राप्त पूरी शक्ति लगावे और फिर भी पूरी सफलता न मिले तो उसे सर्वशक्तिमान ईश्वर की शरण में जाना चाहिये और उससे सहायता की याचना करनी चाहिये। ईश्वर की कृपा के बिना-

सहायता के बिना मनुष्य का प्रयत्न अधूरा है। गजेन्द्र-मोक्ष की कथा इसका प्रमाण देती है।

एक सुन्दर उद्यान पुष्प-पल्लवों से सुशोभित था तथा उसके मध्य में एक विशाल सरोवर था। वहीं बहुत-सी हथिनियों के साथ एक शक्तिशाली गजराज रहता था। वह हाथियों का सरदार था। एक दिन गजराज कड़ी धूप से व्याकुल होकर उसी सरोवर के किनारे गया। उसमें प्रवेश कर पहले तो उसने प्यास बुझाई और निर्मल जल में स्नान कर थकान मिटाई। फिर सूंड से जल के फुहारे छोड़-छोड़ कर साथ की हथिनियों से जल-क्रीड़ा करने लगा। इस प्रकार जब वह क्रीड़ा-रत था एक बलवान ग्राह ने उसका पैर पकड़ लिया। अकस्मात विपत्ति में पड़ने के कारण उसने पूरी ताकत से अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया। परन्तु छुड़ा न सका। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राह को पानी से थोड़ा बाहर खींच ले जाता तो कभी ग्राह उसे पानी में खींच ले जाता। बार-बार जल में खींचे जाने से गजेन्द्र का शरीर शिथिल पड़ गया। शक्ति क्षीण हो गई। गजेन्द्र जब सब तरह से अपने को ग्राह से छुड़ाने में असमर्थ हो गया तब उसने भगवान् की शरण ली और हृदय से श्रीभगवान् की स्तुति की तथा ग्राह से छुड़ाने की प्रार्थना की। गजेन्द्र को पीड़ित देखकर श्रीभगवान् गरुड से कूद पड़े और ग्राह का मुख फाड़ कर गजेन्द्र को ग्राह के चंगुल से छुड़ा लिया। मनुष्य सतत लड़े और अपने को

विकारों से छुड़ाने का प्रयत्न करे। साथ ही ईश्वर की सहायता की याचना करे, उसकी शरण जाय। ईश्वर कृपा बिना सारा पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाता है।

गजेन्द्र-मोक्ष की कथा भक्तों को बड़ी प्रिय है। मीरा ने गाया है—

हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रौपदी की लाज राखी तुरत बढ़ायो चीर।।
भगत कारण रूप नरहरि धर्‌यो आप शरीर।
हिरण्याकुश मारि लीन्हों धर्‌यों नाहिंन धीर।।
बूडतो गजराज राख्यो कियो बाहर नीर।
दासी मीरा लाल गिरधर चरण कमल पर सीर।।

सूरदास जी कहते हैं—

सुने री मैने निरबल के बल राम।
पिछली साख भरूं सन्तन की अड़े सँवारे काम।
जब लगि गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्‌यों नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकारयो आए आधे नाम।।

विकारों से बचने के लिए मनुष्य को भोग चिन्तन से बचना चाहिये।

श्रीभगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

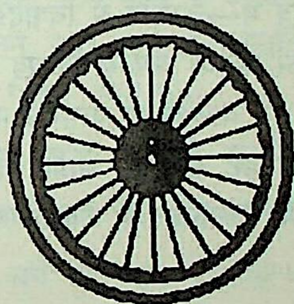
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।
भोग चिन्तन होने से होता उत्पन्न संग है ।
संग से काम होता है, काम से क्रोधभारत ।।
क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति विभ्रम ।
उससे बुद्धि का नाश, बुद्धिनाश विनाश है ।।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़ता होती है। मूढ़ता से स्मृति भ्रम हो जाता है और स्मृतिभ्रम होने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन हो जाता है।

गीता मानव कल्याण, मानव विकास करने वाला सार्व भौम ग्रन्थ है गीता व्यक्ति, परिवार और समाज को देवत्व की ओर गतिमान करने के लिए मार्ग निर्देशित करती है। गीता उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है और उन आदर्शों तक पहुँचने की सरल पद्धति का निरूपण करती है।

गीता देश काल की सीमा से परे है। गीता शाश्वत और सार्वभौमिक है। गीता केवल हिन्दुओं के लिए नहीं है। गीता मानव-मात्र के लिए है। गीता की शिक्षा व्यवहारिक है और आचरण में लाने योग्य है। गीता आज भी उसी प्रकार नवीन

है और कर्तव्य का बोध कराने वाली है जैसी वह कई हजार वर्षों पहले पदार्पण के समय थी। आधुनिक काल के मानव को गीता के सन्देश की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी महाभारत काल के मानव को थी।



कर्म का सन्देश

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवतगीता में नियत कर्म करने का स्पष्ट निर्देश दिया है। गीता अध्यात्म विद्या और योगशास्त्र का सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है।

अर्जुन कुरुक्षेत्र में—कर्मक्षेत्र में विषादग्रस्त हो गया और विविध दलीलें देकर कर्तव्य कर्म से विमुख होने की बात कने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे कर्मक्षेत्र से पलायन न करने की सलाह दी। जीवन संघर्ष मे डटे रहने का आग्रह किया। जीवन संघर्ष में उद्विग्न न होकर शान्तचित्त से स्वधर्म पालन का उपदेश दिया।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि कर्म न करने की बात सोचना गलत है। कोई मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। मनुष्य को कर्म तो करना ही पड़ता है। सब मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

इसलिए अर्जुन तुम नियत कर्म करो, कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

तदुपरान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म करने की ऐसी युक्ति, ऐसी कला बताई कि अर्जुन कर्म करके भी कर्म बन्धन में न बंधे।

श्रीभगवान् ने कहा—

यज्ञार्थत्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।

यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त कर्म इस लोक में बन्धन में डालने वाले होते हैं। इसलिए हे अर्जुन तू आसक्ति त्यागकर यज्ञार्थ कर्म कर।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

यज्ञ से शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। जो पापी यज्ञ न करके केवल अपना पेट पालने के लिए ही अन्न पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।

दूसरे के भले के लिए परोपकार के लिए किया हुआ निःस्वार्थ कर्म यज्ञ कहलाता है। प्राचीन समय में अग्नि हवन और होम परहित के लिए किये गए निःस्वार्थ कर्म के प्रतीक थे—इसलिए यज्ञ थे। अग्निहोत्र यज्ञ का बाहरी आवरण है। उसके पीछे मूल भावना तो परमार्थ की है।

अपनी प्रिय वस्तुएं स्वयं न खाकर उन्हें प्राणियों के कल्याण के लिए अग्नि में होम कर देते थे। अग्नि में आहुति

डालते समय 'न मम' कह कर उस वस्तु से अपनी ममत्व-बुद्धि का त्याग दिखाया जाता था। यही यज्ञ का मुख्य तत्त्व है। आज घी और अन्न की इतनी कमी है कि मनुष्य के लिए ही पूरा नहीं पड़ता। यज्ञ तो हमें आज भी करना है और प्रतिदिन करना है, पर उसका प्रकार बदल गया है। हम यज्ञ को साथ ही लाए हैं। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इसका मतलब यह हुआ कि यह शरीर हमें परोपकार और सेवा के लिए मिला है इसलिए यज्ञ किए बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है, ऐसा श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा—

यज्ञ करने की बात श्रीभगवान् ने अर्जुन के निमित्त से मानव-मात्र से कही है। मनुष्य का कर्तव्य है कि प्रतिदिन यज्ञ करे-सेवा के कार्य करे-परोपकार के कार्य करें।

श्रीभगवान् ने अनासक्त रहते हुए कर्तव्य कर्मों को करते रहने का आदेश दिया है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।

तू असक्त रहते हुए करने योग्य कर्म करता रह। आसक्ति छोड़ कर कर्म करने वाला पुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित दर्शन यथार्थवादी है। जीवन का ऊँचा से ऊँचा लक्ष्य रखते हुए भी गीता कर्म त्याग की बात कभी नहीं कहती। मनुष्य मात्र गीता के बताये रास्ते

पर चलकर परमगति पा जाते हैं। भगवान कृष्ण कहते हैं कि मुक्ति कर्म का त्याग करने से नहीं मिलती, कर्म की आसक्ति और फलासक्ति के त्याग से मिलती है। आसक्ति और फलेच्छा का त्याग बहुत उंचा लक्ष्य है, पर व्यावहारिक है। कर्मों के सर्वथा त्याग की बात अव्यवहारिक है। जल, अन्न, वस्त्र और आवास इत्यादि मनुष्य जीवन के लिए अनिवार्य साधनों का उपयोग तो कर लेना पर उन्हें उत्पादन करने वाले कर्म और श्रम को आध्यात्मिक जीवन के प्रतिकूल बताना अव्यवहारिक है, अनुचित है। भगवान् कर्म का त्याग न करके कर्म की आसक्ति और फल की लालसा का त्याग करने को कहते हैं। यथार्थ कर्म करने का आग्रह करते है। श्री भगवान ने स्पष्ट कहा कि कर्मफल का आश्रय लिए बिना जो विहित कर्म करता है वही योगी है। जो समस्त कर्तव्य कर्मों का त्याग कर बैठा रहता है वह न सन्यासी है और न योगी।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

सकाम पुरुष के कर्म की अपेक्षा निष्काम पुरुष का कर्म अधिक अच्छा होना चाहिये। क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है इसलिए फल सम्बन्धी चिन्तन में थोड़ा बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परन्तु फलेच्छा रहित पुरुष का तो, प्रत्येक क्षण कर्म को कुशलता से करने में ही लगा रहेगा।

मनुष्य की इच्छाएं पूरी न होने पर उसे दुःख और निराशा होती है। इसलिए मनुष्य को अनेक तरह की इच्छाएं ही नहीं करनी चाहिए। इच्छाओं की पूर्ति में सुखी होने के स्थान पर यदि निष्ठापूर्वक प्रयत्न करके ही सुखी रहने की आदत बना ली जाय तो जिस सुख को इच्छा की पूर्ति या परिस्थितियों पर निर्भर समझा जाता है वह अपनी मुट्ठी में आ जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिपादित कर्मयोग का यही तात्पर्य है कि हम अपनी प्रसन्नता को कर्तव्य परायणता व प्रयत्नशीलता पर अवलंबित रखें। जो कुछ करें, उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर करें और इस बात से सन्तोष माने कि एक इमानदार पुरुषार्थी व्यक्ति से जो कुछ प्रयत्न सम्भव हो सकता था, वह हमने पूरे मनोयोग के साथ किया। सफलता न मिले तो इसमें दुःख मानने की कोई बात नहीं है, क्योंकि सफलता व्यक्ति के प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य कई बातों पर निर्भर करती है।

कर्म बिना उद्देश्य के नहीं होता। मनुष्य के कर्म करने में कोई उद्देश्य रहता है—जैसे व्यापार में लाभ हो, स्कूल की पढ़ाई में पुत्र कक्षा में पास हो, औषध सेवन से रोग नष्ट हो, चुनाव में विजयी हों, पुत्र-पुत्री पढ़-लिखकर योग्य बने। मेरी बेटी ससुराल में सुखी रहे, इत्यादि कर्मों में अच्छा फल मिले यह दृष्टि रखकर उचित नियत कर्म करना चाहिये। पर व्यापार में लाभ हो या न हो, पुत्र कक्षा में पास हो या न हो, औषधि सेवन से रोग नष्ट हो या न हो, चुनाव में विजय हो या न हो, पुत्र-पुत्री पढ़कर योग्य बने या न बने,

बेटी ससुराल में सुखी रहे या न रहे, कर्मयोगी स्थिर, शान्त और प्रसन्न चित्त रहता है क्योंकि वह जानता है और मानता है कि उसका कर्म करने मात्र में अधिकार है फल की प्राप्ति में उसका अधिकार नहीं है। इसलिए फल अनुकूल मिले या प्रतिकूल कर्मयोगी अपने चित्त की समता को बनाये रखता है 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। सिद्धि मिले या न मिले कर्मयोगी के चित्त की समता बनी रहती है क्योंकि सभी कर्म वह कर्तव्य समझकर करता है, प्रभु प्रीत्यर्थ करता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—तुझे कर्म करने का अधिकार है। उस अधिकार का उपयोग करके वह नियत कर्म करता रहता है। कर्मफल की उसे आसक्ति नहीं है इसलिए सफलता विफलता में चित्त की सहज समता बनी रहती है।

शान्त, सुखी जीवन जीने का सही तरीका यह है कि जीवन को प्रभु की देन और प्रभु की धरोहर मानकर प्रभु के निमित्त जीया जाय। 'मामनुस्मर युध्य च'। भगवान कृष्ण ने कहा सतत मेरा स्मरण करता हुआ कर्तव्य कर्म करता रह।

श्री मद्भगवतगीता का स्थान संसार के सर्वोत्तम ग्रन्थों में है। इस महत्ता का कारण यह है कि गीता जाति देश और काल की सीमाओं से परे मनुष्य मात्र को सुखी और शान्तिमय जीवन जीने की कला सिखाती है।

यही कारण है कि आचार्य शंकर, श्रीधर, श्रीरामानुज, माध्वाचार्य, मधुसूदन, इत्यादि पूर्ववर्ती आचार्यों ने और

आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक, महात्मागाँधी, श्री विनोबा, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, डॉ. राधाकृष्णनन, श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, श्री जयदयाल गोयनका सदृश मनीषियों ने इसकी महत्ता को स्वीकार कर इसमें निहित जीवन-दर्शन को अपने जीवन में उतारा है।

गीता-ईश्वर का नाम लेने के साथ-साथ ईश्वर का काम करने का आग्रह करती है। यह जगत ईश्वर का है उसीका बनाया हुआ है। हमारा जन्म किसी विशेष कर्म को करने के लिए हुआ है—उस विशेष कर्म को गीता उस मनुष्य का स्वधर्म कहती है। हमे स्वधर्म का पालन करना चाहिये। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए हमें अपने कर्तव्यकर्म को पूरी योग्यता और लगन से करके ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए।



स्वधर्मे निधनं श्रेयः

गीता का भौतिक युद्ध से कोई प्रयोजन नहीं है। आध्यात्मिक सत्य को हृदय में बैठाने के लिए भौतिक युद्ध की उपमा का आश्रय लिया गया है। गीता में कुरूक्षेत्र का युद्ध प्रतीक है उस आन्तरिक युद्ध का जो मानव-देह में सक्रिय है। हमारा शरीर कुरुक्षेत्र है तथा धर्मक्षेत्र भी है। यदि इसे हम ईश्वर का निवास-स्थान समझें और तदनुसार आचरण करें तो यह धर्मक्षेत्र है। क्योंकि नर-देह से ही धर्मकी, आत्म-दर्शन की साधना हो सकती है। मानव-देह के अन्दर भले और बुरे विचारों की, सद्गुणों और दुर्गुणों की लड़ाई हमेशा चलती रहती है। दुर्गुणों का प्रबल होना कौरवों की जीत है, सद्गुणों का प्रबल होना पाण्डवों की जीत है। जब तक जीवन है यह युद्ध चलता ही रहता है। जीवन संग्राम में जब मनुष्य राग-द्वेष के कारण अपने पराये का भेद-भाव करने लगता है, तब कर्तव्य-कर्म का निर्णय नहीं कर पाता। अस्थिर चित्त हो जाता है। विषाद युक्त हो जाता है।

ऐसी परिस्थितियों में गीता-माता मार्ग निर्देश करती है। राग-द्वेष त्यागकर स्वधर्म का पालन करो। अनासक्त रहने का अभ्यास करो। कर्मफल की चिन्ता छोड़ो। योगस्थ होकर कर्म करो।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२।४८

कर्म कर अनासक्त पार्थ होकर योगस्थ ।
सम सिद्धि असिद्धि में सम-भाव ही योग है।।

हे धनंजय, आसक्ति त्याग कर योगस्थ रहते हुए अर्थात सफलता-विफलता में समान भाव रखकर तू कर्म कर। समत्व-बुद्धि का नाम ही योग है।

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।३।५

कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। सब मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

मनुष्य को नियतकर्म, अपने-हिस्से में प्राप्त हुए सेवा कार्य को अनासक्त भाव से करते रहना चाहिये। यज्ञ के लिए, परोपकार के लिये किये कार्यों से मनुष्य कर्म बन्धन में नहीं फंसता है। निष्काम कर्म से चित्त शुद्ध होता है। जो केवल स्वार्थमय जीवन बिताता है, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

हम सब मनुष्य इस संसार में आकर अपने-माता पिता से, समाज से और देश से बहुत कुछ पाते हैं। इनका दिया जो भोगता है और श्रम तथा सेवा द्वारा माता-पिता

गुरुजनों तथा समाज का ऋण नहीं चुकाता उसे गीता-माता चोर कहती है।

जो ईश्वर का नाम तो जपता है पर ईश्वर के बनाएँ संसार में रहकर स्वधर्म का पालन नहीं करता, अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता वह निन्दनीय है।

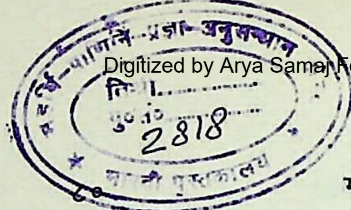
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३।३५

गुण रहित भी स्वधर्म उत्तम है।

मनुष्य को अपने नियत कर्म में निष्ठापूर्वक लगे रहना चाहिये। जो कार्य जिसे सौंपा गया है या जिस कार्य का दायित्व उसने समझबूझ कर अपने ऊपर लिया है उसी में उसे अपने को खपा देना चाहिये। दूसरे का काम अच्छा भी दिखे तो अपना कर्तव्य छोड़कर उसे नहीं अपनाना चाहिये। ईश्वर की दृष्टि में कोई कार्य छोटा या बड़ा नहीं है। मोहवश या स्वार्थवश स्वधर्म को नहीं त्यागना चाहिये। स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु हो जाय तो श्रेयस्कर है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८।४८

जिस परमेश्वर से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा अभ्यर्चना-पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है।



श्री विनोबा **'गीता-प्रवचन'** में कहते हैं—

"स्वधर्म कितना ही विगुण हो तो भी उसी में रहकर मनुष्य को अपना विकास कर लेना चाहिये; क्योंकि उसी में रहने से विकास हो सकता है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। स्वधर्म न बड़ा होता है और न छोटा। वह हमारे वित्त भरका होता है।

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' इस गीता-वचन में धर्म शब्द का अर्थ हिन्दू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहाँ जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नहीं है। चिन्तन और अनुभव से जैसे-जैसे वृत्तियाँ बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहले का धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है।

दूसरे का धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करने में मेरा कल्याण नहीं है। सूर्य का प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाश से मैं बढ़ता रहता हूँ। सूर्य मुझे वन्दनीय भी है। परन्तु इसलिए यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उसके पास जाना चाहूँगा तो जलकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वी पर रहना विगुण हो, सूर्य के सामने पृथ्वी बिल्कुल तुच्छ हो, वह स्वयं प्रकाश न हो, तो भी जब तक सूर्य के तेज को सहन करने का सामर्थ्य मुझमें न आ जायगा तब

तक सूर्य से दूर पृथ्वी पर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियों से कोई कहे कि पानी से दूध कीमती है, तुम दूध में रहने चलो, तो क्या मछलियाँ उसे मंजूर करेंगी ? मछलियां तो पानी में ही जी सकती हैं, दूध में मर जायेंगी।

दूसरे का धर्म सरल मालूम हो तो भी उसे ग्रहण नहीं करना है। बहुत बार सरलता आभासमात्र होती है। घर गृहस्थी में बाल-बच्चों की ठीक संभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले तो वह ढ़ोंग होगा व भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी।

स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्म को कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। जिन माँ-बाप की कोख से मैं जन्मा हूँ उनकी सेवा करने का धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाज में मैने जन्म लिया है, उसकी सेवा करने का धर्म भी मुझे अपने आप प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्म के साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्म के पहले से ही हमारे लिए तैयार रहता है। क्योंकि वह हमारे जन्म का हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्ति के लिए होता है। मैं स्वधर्म के लिए माता की उपमा देता हूँ। मुझे अपनी माता का चुनाव इस जन्म में करना बाकी नहीं रहा। वह पहले से ही निश्चित

गीता-माता

महात्मा गांधीजी

भारत सरकार के प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली ने 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय' प्रकाशित किया है। उसके ८० से अधिक खण्ड हैं। जिस खण्ड से पूज्य गांधी जी के वचन लिए गए हैं उस खण्ड का नाम तथा पृष्ठ संख्या प्रत्येक वचन के बाद अंकित की गयी है।

१

भगवद्गीता आपके लिए आचरण के नियम प्रस्तुत करती है। जब भी आप किसी कठिनाई, संशय या निराशा में पड़ें या संतप्त हो उठें तब आप इस धर्म संहिता और सार-ग्रन्थ का सहारा ले सकते हैं।३४।४४

२

शुद्ध आचरण और अर्थ सहित गीताजी पढ़ना तो सभी बहनों को सीख लेना चाहिये। जैसे भोजन बनाना न जानने वाली स्त्री शोभा नहीं देती, वैसे ही यह कहने में अतिशयोक्ति

नहीं है कि गीताजी न जानने वाली स्त्री भी शोभा नहीं देती।
३४।११४

३

मेरा निश्चित मत है कि गीता को पढ़ने और समझने का सबको अधिकार है। ३५।३५४

४

गीताजी में एक जगह कहा गया है कि जो ऊपर से संयम करके मन में विषयों का सेवन करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी है। यह वाक्य पाखण्डी के लिए है। वहीं गीता जी सच्चा प्रयत्न करने वाले के लिए कहती हैं कि प्रमाथी इन्द्रियों का बार-बार संयम करो।

५

उसकी बीमारियों का कारण उसके मनमें भरे विकार ही हैं। अनजाने ही ये विकार मनुष्य को कुतर-कुतर कर खाते रहते हैं। इस बारे में मुझे तनिक भी शंका नहीं है।
३५।३५३

६

तुम गीता का पूरा पाठ बिना एक भी गलती किये सुना सकती हो, और तुम्हें गीता का सस्वर पाठ करने के लिए पुरस्कार मिला है, इसके लिए बधाई। गीता का पाठ करने के अलावा, उसका अध्ययन करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि उसका एक-एक श्लोक लिया जाये। उसके अर्थ को

पूरी तरह समझा जाय और अपने जीवन-व्यवहार में उनका पालन किया जाये। ३५।४२५

७

मेरे लिए गीता रत्नों की खान है। तुम्हारे लिए भी वह रत्नों की खान बन जाये, जीवन-पथ में गीता तुम्हारी सतत संगिनी रहे, पथ-प्रदर्शिका बनी रहे। गीता तुम्हारा पथ प्रकाशित करे, तुम्हारे प्रयत्नों को प्रतिष्ठापूर्ण बनाये।
३५।५१९

८

एक हिन्दू बालक को भगवद्गीता का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करने से जो चारित्रिक दृढ़ता प्राप्त होती है, उतनी अन्य किसी चीज से नहीं हो सकती। विद्यार्थी इस बात का ध्यान रखें कि भगवद्गीता का अध्ययन उन्हें अपना संस्कृत का ज्ञान या स्वयं गीता का ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए नहीं करना है। वे ध्यान रखें कि इसका अध्ययन उन्हें आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिए और इसकी सहायता से अपनी सारी मुसीबतों पर विजय प्राप्त करने के लिए करना चाहिये। जो भी व्यक्ति इस पुस्तक का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करता है उसका देश-सेवक और जन-सेवक बनना लाजिमी है। ३५।१८२

९

गीता की भावना से प्रेरित होकर काम करने वाले लोग कभी भी शक्ति से अधिक काम करके अपने आपको थकाते

नहीं हैं, क्योंकि वे सर्वथा निरपेक्ष रहकर काम करते हैं और पूर्णतः निरपेक्ष रहने का मतलब है चिन्ता से पूरी तरह छुटकारा। हम जब अपने-आपको ईश्वर के हाथ का एक साधन मानकर काम करते हैं और स्वयं को पूरी तरह उसी के हाथों में समर्पित कर देते हैं, तब फल जो भी निकले चिन्ता किस बात की, विक्षुब्द होने का तब कोई कारण नहीं रह जाता, भले ही क्षितिज पर कुछ समय के लिए बादलों की कालिमा गहन-से गहनतर हो उठे। ३८।२२७

१०

ऐसे तो कई उदाहरण याद हैं गद्य में लिखी हुई चीजों का असर नहीं पड़ा और उन्हीं के बारे मे भजन सुनने पर मन पर उनका असर हो गया। मैंने यह भी देखा है कि भजन के बेसुरे गाये जाने पर उसके शब्दों ने मुझे नहीं छुआ। और जब वहीं भजन मधुर सुर में गाया गया, तो उसमें भरे हुए अर्थ का असर मनपर बहुत गहरा हुआ। गीता जब मीठी आवाज में एक सुर में गायी जाती है, तब मैं उसे सुनते-सुनते थकता ही नहीं, और गाये जाने वाले श्लोकों का अर्थ दिल में ज्यादा-ज्यादा गहरा पैठता है। ३८।९३

११

गीता तो यही शिक्षा देती है कि चाहे जैसी भी स्थिति आ जाये हम चित्त को अस्वस्थ न होने दें। ३८।८८

१२

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

अर्थात् जैसी करनी वैसी भरनी। कर्म को मिथ्या कौन कर सकता है? वह तो अपने कानून बनाकर निवृत्त-सा हो गया है। ३९।१८८

१३

सामान्य रीति से विचार करने वाला आदमी थककर उधेड़बुन में पड़ जाता है। इसी कारण सत्य की आराधना करने वाला बहुत विचार करने के फेर में नहीं पड़ता और कुछ बातों को प्राणप्रण से अपनाये रहता है और अन्त में वह उन्हीं में से पूर्ण सत्य की खोज कर लेता है। अमुक बात ठीक है या गलत, नित्य ऐसी शंका करने के बदले वह जो-कुछ स्वीकार कर लेता है, नम्रतापूर्वक उसी में निमग्न रहता है। 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।'

हमारा हर विचार, हर काम ही जब अपूर्ण है तो वहां भूलें होने का अवकाश तो है ही, ऐसी अवस्था में क्या करें? जब तक वे सम्पूर्ण न हो जायें तब तक यदि हम उन्हें करें ही नहीं अथवा उनके विषय में शंकित बने रहें तो कोई भी काम कभी सम्पन्न नहीं हो सकता। ४०।३४७

१४

एक ओर यह निर्विवाद है कि कर्ममात्र बन्धन-रूप हैं। दूसरी ओर देहधारी मानव इच्छा या अनिच्छा से भी कर्म

किया करता है। शरीर या मनकी प्रत्येक चेष्टा कर्म है। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धन से मुक्त कैसे रह सकता है? जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस समस्या का निराकरण जैसा गीता जी ने किया है वैसा अन्य किसी भी धर्मग्रन्थ ने नहीं किया है। गीता कहती है 'फल की आसक्ति छोड़कर कर्म करो' 'आशा-रहित होकर कर्म करो' 'निष्काम बनकर कर्म करो। यह गीता की ऐसी ध्वनि है, जो भुलाई नहीं जा सकती। जो मनुष्य कर्म को छोड़ता है, वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसके फल को छोड़ता है वह ऊँचा उठता है।

फलत्याग का अर्थ कर्म के परिणाम के विषय में लापरवाह रहना नहीं है। परिणाम का और साधन का विचार करना तथा दोनों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना करने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है, वह फलत्यागी कहा जाता है।

परन्तु यहां फलत्याग का कोई ऐसा भी अर्थ न करे कि त्यागी को कर्म का फल नहीं मिलता। गीता में ऐसे अर्थ के लिए कहीं भी अवकाश नहीं है। फलत्याग का अर्थ है फल के विषय में आसक्ति का अभाव। वास्तव में फलका त्याग करने वाले को हजार गुना फल मिलता है। गीता के फलत्याग में तो मनुष्य की अनन्त श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान किया करता है, वह अधिकतर कर्म-कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। वह अधीर बन जाता है। इसलिए क्रोध के वश हो जाता है, और बाद में वह न करने योग्य

काम करने लगता है। एक कर्म से वह दूसरे कर्म में और दूसरे से तीसरे कर्म में उलझता रहता है।

कर्म के परिणाम का चिन्तन करने वाले मनुष्य की स्थिति विषय से अन्धे हुए मनुष्य के समान हो जाती है, और अन्त में वह विषयी मनुष्य की तरह भले-बुरे का नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है, तथा फल पाने के लिए चाहे जैसे साधनों का उपयोग करता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्ति के ऐसे कड़वे परिणामों से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफल के त्याग का सिद्धान्त निकाला है और उसे दुनिया के सामने अत्यन्त आकर्षक भाषा में रखा है। ४१।९६

१५

संयम से रहने का प्रयत्न करने वाले को सफलता अवश्य मिलती है, यह गीता का वाक्य है और अनुभव सिद्ध है। इसमें धीरज की आश्यकता तो है ही। ४२।१९३

१६

गीता का पाठ करने वाले को उदासी घेर ही नहीं सकती। नित्य प्रति ईश्वर का ध्यान करने और उसे अपने हृदय में प्रतिष्ठित मानने वाला कोई व्यक्ति उदास हो ही कैसे सकता है? उदासी को मार भगाओ। ४३।४४९

१७

मैं हर क्षण काम में लगा रहता हूँ और इसी में शान्ति है। मैं काम में ही प्रभु के दर्शन कर सकता हूँ। वह तो कहता है कि मैं एक क्षण भी आराम किये बिना, आलस्य किये बिना निरन्तर अपना काम करता रहता हूँ। हम इसके अतिरिक्त उसे अन्य किस तरह से पहचान सकेंगे। ४३।४३४

१८

भगवान का यह निरपवाद वचन है कि जो जिसे भजता है वह उसे प्राप्त होता है। हम निर्विकार और पूर्ण त्यागमय सेवाभाव पाने की कामना करते हैं। इसलिए यदि यह भावना हमारे मन में जाग्रत नहीं होती तो भगवान का वचन मिथ्या हो जाता है, या फिर हमारी भावना ही सच्ची नहीं होगी। अत: हमतो श्रद्धापूर्वक अपनी साधना में तन्मय रहें।
४४।२९

१९

हम वह श्लोक भी तो जानते हैं जिसमें कहा गया है कि जो अनन्य भाव से भगवान् का चिन्तन करते हैं उनके कुशलक्षेम की चिन्ता भी वही करता है। फिर हमें किस बात की चिन्ता? ४४।३२

२०

जैसी जिसकी श्रद्धा ऐसा उसको होय, ऐसा भगवान का वचन है। वह मिथ्या नहीं हो सकता है। ४४।५१

अपनी कमजोरी को दूर करने का एक रास्ता तो यह है कि जिस दिन गीता के जिस अध्याय का पाठ हो, उस दिन उस अध्याय में से जो भी श्लोक रुचे, कोई-भी काम करते हुए पूरे दिन उस श्लोक का निरन्तर पाठ करें। ऐसा करने से अन्य हानिकारक विचार दूर हो जाते हैं। यह उपाय मेरा आजमाया हुआ है। अन्य बहुत से लोगों का भी यही अनुभव है। ४४।९९

२१

तुम परिताप न करो। प्रयत्नशील हो इसलिए अन्ततः सब-कुछ ठीक ही होगा। हमारा शरीर हमारे काबू में है इसलिए हमें उस पर अंकुश अवश्य रखना चाहिये और मनको नियंत्रित करना चाहिये। जो मनुष्य दिखावा करने के लिए शरीर पर काबू करता है और मन से विषय-सेवन करता है वह दम्भी है, मिथ्याचारी है। जो मनुष्य शरीर पर काबू रखता है और मन को रोकने का सतत् प्रयत्न करता है वह प्रयत्नशील साधक है। और जिसका मन और शरीर पर पूर्णतः अधिकार है वह भगवान है। हम सब मध्यम वर्ग के प्रयत्नशील साधक हैं, अथवा हों तो पर्याप्त है। मन को कभी मलिन न रहने दें। मन में मलिन विचार आए तो उन्हें हर सूरत में निकाल देना चाहिए। जिस तरह शरीर पर रोज मैल चढती है और उसे हम रोज निकालते हैं, ऐसा ही मन के विषय में भी समझना चाहिये। ४४।९

२२

जैसे चीजों का, वैसे ही विचारों का भी अपरिग्रह होना चाहिए। जो आदमी अपने दिमाग में बेकार का ज्ञान भर रखता है वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख करते हैं, फेर लेते हैं या ईश्वर की ओर नहीं ले जाते, वे सब परिग्रह में गिने जायेंगे और इसलिए छोड़ने लायक हैं। ज्ञान की ऐसी व्याख्या भगवान ने गीता के तेरहवें अध्याय में दी है। वह इस मौके पर सोचने लायक है। अमानित्व वगैरह को गिनाकर भगवान ने कह दिया है कि उसके अलावा जो कुछ है वह सब अज्ञान है। अगर यह सही वचन है—और सही तो है ही—तो आज जो हम बहुत कुछ ज्ञान के नाम से जमा करतें है वह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बजाय नुकसान होता है, उससे सिर घूमता रहता है, और आखिर वह खाली हो जाता है, उसमें असन्तोष फैलता है और बुराईयाँ बढती है।

इसमें से कोई जड़ता का अर्थ कभी न निकाले। हमारा हर एक पल और क्षण प्रवृत्तिपूर्ण होना चाहिये। लेकिन यह प्रवृत्ति सात्विक हो, सत्य की ओर ले जानेवाली हो।

४४।१०४

२३

तुम उद्विग्न रहती हो। ऐसा क्यों है? जो गीता का पाठ करता है वह कभी उद्विग्न नहीं हो सकता। जो प्रतिदिन ईश्वर

का ध्यान करता है, जो ईश्वर को अपने हृदय में स्थित मानता है उसे उद्वेग कैसा? उद्वेग को अपने मन से निकाल देना।
४४।१११

२४

तुम सदा अपने कर्तव्य में प्रवृत्त रहती हो। यही उचित भी है और इसी से उचित परिणाम निकलेगा। कर्तव्य के प्रति तन्मयता कल्पद्रुम है। ४४।१११

२५

मानव की वाणी सत्य का वर्णन करने के लिए अपर्याप्त है। आत्मा अजन्मा और अविनाशी है। बाहरी व्यक्तित्व नष्ट होता है, उसे नष्ट होना ही है। जिस प्रकार सागर में प्रत्येक बूंद का एक व्यक्तित्व है भी और नहीं भी है, उसी प्रकार व्यक्ति की सत्ता है भी और नहीं भी। ऐसा इसलिए नहीं कि सागर के पृथक बूंद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात उसकी कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है, तो सागर की भी कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है। ये बहुत ही सुन्दर ढंग से परस्पर निर्भर हैं। और यदि यह बात भौतिक जगत के बारे में सच है तो आध्यात्मिक जगत के मामले में कितनी सच न होगी।
४४।१३१

२६

किसी व्यक्ति को अपनी मानसिक स्थिति के बारे में बहुत सोच-विचार नहीं करना चाहिये। हमें अपने नियत कार्य में

तन्मय रहना चाहिये और प्रफुल्लित रहना चाहिये। जब हमारे मन में विकार पूर्ण विचार आने लगें तो सद्‌विचारों द्वारा उनका निवारण करके हमें शान्त रहना चाहिये। अपने निश्चयों पर दृढ़ रहने से आत्मविश्वास अपने आप आ जाता है। ४४।११३

२७

आशा है कि तुमने दुःख मानना छोड़ दिया होगा। तुम्हारे दुःख की औषधि गीता जी है। ४४।१३७

२८

मुझे उपनिषद की एक कथा याद आ गयी। उसमें हमारी इन्द्रियों की तुलना घोड़े से की गयी है। आत्मा की सारथी के रूप में कल्पना की गयी है। जो इस घोड़े अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में रखता है उसे विजयी, और घोड़ा जिसे घसीट ले जाये पराजित कहा गया है। उस घोड़े को जिस प्रकार तू अपने साहस के बल पर रोक सकी है उसी प्रकार तू और अन्य बहनें अपनी इन्द्रियों पर सवार रहें और उन्हें अपने वश में रखें। यदि तुम लोग ऐसा कर सकीं तो वह हमारे लिए रामराज्य होगा। ४४।१३८

२९

श्रद्धा रखना। श्रद्धा का काम तो वहीं होगा न, जहाँ बुद्धि काम न दे। ४४।१४३

३०

हम अकेले पड़ जाँय, कोई हमें न पुकारे, कोई हमारी न सुने और भले होने के बावजूद लोग हमें गालियां दें, और इतने पर भी यदि हम मुस्कराते रहें और प्रसन्न रहें तो इसी को सच्चा आनन्द कहा जा सकता है। संसार भले ही हमारी निन्दा या स्तुति करे, किन्तु इन बातों का स्पर्श तक हमें अपनी आत्मा से नहीं होने देना चाहिये। यह स्थितप्रज्ञ सम्बन्धी उन श्लोकों का अर्थ है जिनका हम नित्य पाठ करते हैं। नित्य नियम और श्रद्धा पूर्वक इसका पाठ करने से किसी दिन हम उसे आत्मसात् कर लेंगे। ४४।१७३

३१

एक, दो, तीन-ये सब काम मुझे करने हैं ऐसा कहने और सोचने के बदले यह सोचो और कहो कि एक, दो, तीन-ये सब काम भगवान करता है और मैं उसका साधन हूँ। ऐसा समझने पर बोझ तो लगेगा ही नहीं। बोझ तो भगवान उठाता है और उसके कन्धे इतने विशाल हैं कि चाहे जितना बोझ लादें भगवान को उसका भार उतना भी नहीं लगता जितना हमें रजकण का लगता है। इसलिए हम मैं और मेरा भूल जायें। 'मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, यह हमारी अज्ञानता होगी। गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते के ऊपर यदि गाड़ी का भार होता है तो हम भी अपने ऊपर रहने वाले काम का भार मानें। किन्तु जो ईश्वर के निमित्त ही सेवा करता

है, वह ज्यादा बोझ तो कदापि नहीं उठाता। उसे उठाने की जरूरत ही नहीं। उस पर भार आ पड़ता है। और वह भगवान का स्मरण करता हुआ आनन्दपूर्वक चलता जाता है। 'मने चाकर राखो जी' इस भजन के अर्थ का विचार करना। जो भगवान के हो गये हैं उनके योगक्षेम का बोझ भगवान पर है। ऐसी भगवान की प्रतिज्ञा है। फिर हमें क्या परेशानी है।

इतना परिश्रम न करना कि थकान हो। सेवा भाव से किये जाने वाले काम में परिणाम का ध्यान रखना चाहिये। ध्यान तभी रख सकता है, जब हममें अनासक्ति की भावना आ गई हो। अनासक्ति का पर्याय ममत्वहीनता कहा जा सकता है। 'चादर के अनुसार पैर फैलायें, वाली कहावत में बहुत ज्ञान निहित है।

समय-समय पर हृदय में 'चाकर राखो जी' की धुन दोहराती रहना। ४४।१९३

३२

गीता का मूल्य तू समझे तो ही वह तुझे भायेगी।
४४।२०६

३३

बिना मौत कोई नहीं मरता। अकाल मृत्यु मिथ्या भ्रम है। एक दिन जीवित रहकर मरने वाले बालक की भी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसकी मृत्यु का अर्थ है कि उस देह के कर्म पूरे हो गए हैं। मृत्यु के कारण हमें जो दुःख होता है

वह केवल अज्ञान और स्वार्थ वश होता है। आत्मा के धर्म के प्रति अज्ञान के कारण, और चूंकि हम स्वयं मरना नहीं चाहते, इस कारण मित्र आदि की मृत्यु से हम विचलित हो उठते हैं। ४४।२११

३४

दोष मुक्त तो इस जगत मे कोई नहीं है। मुक्ति पाने की कोशिश करना हम सबका कर्तव्य है और वही पुरूषार्थ है। जब तक निजी प्रयत्न के हम साक्षी बन सकें निराशा को कोई स्थान नहीं है। दुनियावी व्यापार में जितने साहस की आवश्यकता है उससे कोटिगुना साहस की आवश्यकता आध्यात्मिक व्यापार में है। आत्मश्रद्धा को कभी न छोड़ा जाय। श्रद्धा के नजदीक सब कुछ शक्य है। ४४।२२१

३५

तुमने जिस स्थिति का वर्णन किया है, वह हरगिज नहीं होने देनी चाहिये। अगर तुम अनासक्त होकर काम करो, तो किसी भी काम के लिए तुम भागदौड़ न करोगी और न अपने मनपर किसी बात का भार पड़ने दोगी। किसी सुपुर्द किये हुए काम या हाथ में उठाये हुए काम में अपना सारा हृदय लगा देने के बाद आदमी उसका परिणाम ईश्वर पर छोड़ सकता है। तब कोई भागदौड़ और कोई चिन्ता नहीं रह सकती। राजा जनक की कथा तुम्हें मालूम है। वे कर्तव्य की साक्षात् मूर्ति थे। उनकी राजधानी जल रही थी। उन्हें मालूम

था। लेकिन किसी ने उन्हें इसकी खबर दी। उनका उत्तर था 'मेरी राजधानी जल कर राख हो जाये या बच जाये, इसकी मुझे क्या चिन्ता।' उन्होंने उसे बचाने की जितनी कोशिश हो सकती थी, कर ली थी। घटनास्थल पर उनके जाने और वहाँ अतिरिक्त हलचल का वातावरण पैदा करने से आग बुझाने वालों का ध्यान दूसरी ओर बँट जाता और इससे स्थिति और खराब ही होती। वह तो भगवान के प्रतिनिधि मात्र थे। उस हैसियत से उन्होंने अपना भाग अदा कर दिया था और इसलिए वे दायित्व से मुक्त और निश्चिन्त थे। इसी तरह अगर हम भरसक अपना कर्तव्य कर चुके हों, तो हमारा काम बने या बिगड़े हम भी शान्त और निश्चिन्त हो सकते हैं, और हमें होना ही चाहिये। ४४।२३३

३६

तीन फुट ऊँचा मनुष्य अपना हाथ वहाँ तक पहुँचाना चाहे जहाँ छः फुट ऊँचे मनुष्य का हाथ पहुँचता है और ऐसा न कर सकने पर दुःखी हो, तो वह मानव जगत्कर्ता की निन्दा करता है। जो यथाशक्ति भक्तिपूर्वक अपना कर्तव्य करता है, वह अपना ऋण पूरी तरह चुकाता है। ४४।२८२

३७

जो लोग गीता के श्लोकों का पाठ करते हैं वे सब तल्लीन नहीं होते। लेकिन श्रद्धापूर्वक पाठ करने से किसी न किसी दिन तल्लीनता अवश्य आ जाती है। इसके अतिरिक्त

श्लोकों के अर्थ में गम्भीर रहस्य भरा हुआ है। यदि तू उनका मनन करेगी तो भी तू उनमें तल्लीन हो सकेगी। ४४।३२१

३८

भागकर हिमालय चला जाना तो कायरता है। मान-अपमान को एक सा मानने का उपदेश तो गीता के पन्ने-पन्ने पर है। कोई चाहे कुछ कहे, उसका दु:ख नहीं माने। अन्तरात्मा जो कुछ कहे, उसी पर विचार करें। ४५।९४

३९

गीता का मुख्य उपदेश यही है कि हम सब स्थितियों में शान्त रहें। यह हमसे न हो तब तक सब-कुछ कच्चा हे। हमारे लिए मान-अपमान एक जैसा होना चाहिये। इसलिए हम अपने हिस्से में आई सेवा कर चुकने पर निश्चिंत हो सकते हैं। ४५।१०६

४०

गीता की भाषा में हमारा कर्तव्य तो मात्र कर्म करना है, फल की चिन्ता करना नहीं। यदि उद्देश्य और कर्म शुद्ध हैं तो उससे निकलने वाले विविध परिणामों के लिए करने वाला उत्तरदायी नहीं है। ४५।२४१

४१

गीता का तो यह कहना है कि परधर्म ज्यादा अच्छा हो तो भी स्वधर्म ही ठीक है। स्वधर्म पालन में चाहे मरण

हो, तो भी परधर्म तो भयावह ही है। स्वधर्म अर्थात् स्वकर्म।
४५।५०

४२

भतृहरि ने भयहीन वस्तु केवल वैराग्य को ही माना है। गीता का वैराग्य इसी तरह का सच्चा वैराग्य है। यह वैराग्य फल का मोह त्याग देने से प्राप्त हो जाता है। ४६।१३४

४३

संस्कृत न जाने तो भी प्रार्थना के श्लोकों और गीता का शुद्ध उच्चारण करना तो सीख ही लेना चाहिये।
४६।१७९

४४

उपदेश कह चुकने के बाद क्या होता है इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर नहीं है। गीता का यही पाठ है कि परिणाम को ईश्वर पर छोड़ दें। हम तो उसके हुक्मके बन्दे हैं। अतः गाओं 'मने चाकर राखोजी'। ४७।८५

४५

जो अपने जीवन को गीता की शिक्षा पर चलाना चाहे, उसे अक्षरशः इस सिद्धान्त पर चलना पड़ेगा कि 'कल का विचार ही न करो'। ४७।१७४

४६

मनुष्य-देह में ईश्वर-दर्शन होगा या नहीं, यह प्रश्न गीता-भक्त के मन में पैदा ही नहीं होता। क्योंकि कर्म का अधिकार है, फल का कभी नहीं। और जिस बात का अधिकार नहीं है, उसका विचार क्यों किया जाय?

४९।२२२

४७

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्' १७।१५

अनुद्वेगकरम् का अर्थ हुआ कि बोलने वाले को बिल्कुल शुद्ध हृदय से यह देखना चाहिये कि उसकी दृष्टि और इच्छा उद्वेग उत्पन्न करने की न हो। दूसरे पर क्या असर होगा इसे हम निश्चयपूर्वक कदापि नहीं जान सकते। इसलिए विचार यह करना चाहिये कि कोई हमसे यह कहे, तो हमें कैसा लगेगा। 'प्रिय' और 'हितकर' पर भी यही बात लागू होती है।

४९।२२३

४८

मनुष्य का धर्म शरीर-श्रम करना है। जो ऐसा नहीं करता, वह चोरी का अन्न खाता है। ४९।३९

४९

प्रथम तो यह भूल जाइये कि गीता के जरिये ईश्वर बोल रहा है। ईश्वर जब कभी बोलता है, सदोष मानवीय माध्यम

के द्वारा ही बोलता है। दूसरे यह कि गीता को एक ऐतिहासिक पुस्तक नहीं मानना चाहिये। तीसरी बात यह है कि यह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखी गयी है जिसके समय में युद्ध (प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के अनुसार) निषिद्ध नहीं था और वह अहिंसा के साथ असंगत नहीं माना जाता था इसलिए गीता के लेखक ने अपना उपदेश हृदयंगम कराने के लिए एक ऐसा दृष्टान्त चुना है जिसे दोषपूर्ण मानने का हमें हक है। गीता की मूल शिक्षा यह है कि किसी भी वस्तु के विषय में निरर्थक चिन्ता मत करो, फल हमारे बस की बात नहीं है।

कर्तव्य-पथ को पहचान लेने पर परिणाम की तनिक भी परवाह न करते हुए उसपर बढते ही जाना चाहिये। अर्जुन का तर्क दोषपूर्ण था और सांसारिक नातों के प्रति आसक्ति से पैदा हुआ था। वह युद्ध को गलत नहीं मानता था। वह केवल सम्बन्धियों से युद्ध नहीं करना चाहता था। धर्म की ओर से उस आसक्ति का उत्तर यही होगा कि न कोई हमारी आत्मीय है या फिर कोई आत्मीय नहीं है। इसलिए यदि युद्ध करना न्यायसंगत ही है तो इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह सम्बन्धियों के विरूद्ध है या अपरिचितों के विरूद्ध। लेकिन यह 'स्थूल, बाह्य युद्ध उस युद्ध की छायामात्र है जो भीतर चल रहा है—ईश्वर व शैतान के बीच, बुराई और अच्छाई की शक्तियों के बीच। और क्या हमारे अन्दर हमेशा ही कर्तव्य-अकर्तव्य की ऐसी कठिन और नाजुक समस्याएं

नहीं उठती हैं, जिनका सम्बन्ध हमारी अन्तरात्मा से होता है? गीता कहती हैं 'सब कुछ ईश्वर पर छोड़ दो। वही तुम्हारी और तुम्हारी शंकाओं की चिन्ता करेगा, किसी भी बात के लिए अपने-आपको परेशान मत करो, बल्कि जो भी सेवा-कार्य सामने आता है, उसे ईश्वर के नाम पर और ईश्वर के लिए पूरा करो। ४९।६८

५०

मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु हैं ऐसा समझकर उनसे नित्य युद्ध करना। इसी युद्ध का महाभारत में वर्णन है।
४९।२१८

५१

तूने तो ऐसी बात लिखी है जैसे तुझे पकौड़े खाना तो अच्छा लगता है और चपाती खाना नहीं। जिसका शरीर ऐसी मांग करने लगे, वह रोगी माना जाता है। निरोगी मनुष्य का पेट पकौड़ों से नहीं भरता। वह तो रोटी ही मांगेगा। ठीक यही बात गीता के बारे में समझ। हृदय के पट खुल जाने पर तो गीता अवश्य अच्छी लगती है। जब तक गीता अच्छी नहीं लगती, तब तक यह समझ कि कहीं कुछ कमी है।
४९।८०

५२

जिनके लिए त्याग में ही भोग है, उनको हर स्थिति में त्याग का अवसर खोजना है और त्याग के लिए असीम

क्षेत्र है। पर त्यागं ऐसा नहीं होना चाहिये कि कमर ही टूट जाये। ऐसा त्याग त्याज्य है। ४९।९३

५३

ज्ञानेन्द्रियों पर अवश्य ही काबू पाया जा सकता है। यह कठिन है, शास्त्र ऐसा उच्च स्वर से कहते है, किन्तु शास्त्र इसी उद्देश्य से लिखे गए हैं कि मनुष्य यह काबू प्राप्त कर सके अभ्यास और वैराग्य से इन पर काबू पाया जाता है। अन्तर-विकास और आत्म-दर्शन साथ-साथ चलने वाली वस्तुएं हैं। तुम्हारी अशान्ति का उपाय तुम्हारे भीतर ही है। विश्रान्ति भी भीतर ही है। शारीरिक विश्रान्ति नहीं है। सूर्य एक क्षण भी विश्रान्ति नहीं लेता फिर भी नित्य ताजा रहता है। भगवान कहते है कि मैं बिना विश्रान्ति लिए निरन्तर काम करता हूँ, आलस्यहीन होकर काम करता हूँ, फिर भी विश्रान्ति का धाम हूँ। इसलिए सभी कुछ अपने भीतर से ही खोजकर निकालना। ४९।१५४

५४

मनुष्य प्रयत्न करने पर भी विकारवश हो जाता है। क्योंकि विकारों को नष्ट करने के लिए घोर प्रयत्न की आवश्यकता होती है। किसी के लिए कम प्रयत्न और किसी काम के लिए ज्यादा प्रयत्न करना पड़ता हैं यह जानकर हमें चाहिये कि हम जितने असफल हों, उतना ही अधिक प्रयत्न करें। कितने ही यात्री हिमालय को चोटी पर पहुँचने का प्रयत्न

करते हैं। यह प्रयत्न तो उसके मुकाबले बहुत श्रेयस्कर है और उसमें असफलता तो है ही नहीं। ४९।१५८

५५

बहुत सी पुस्तके पढ़ने के बजाय एक ही का मनन करने से और उस पर अमल करने से मनोवांछित परिणाम मिलता है। सन्यास का अर्थ सब कर्मों का त्याग कदापि नहीं है। उसका अर्थ है काम्य कर्म का त्याग और नियत कर्म के फ़ल का त्याग। यही नैष्कर्म्य है। इसलिए कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना आवश्यक है। नैष्कर्म्य का वही अर्थ है जो मैने लिखा है। ४९।१८७

५६

आत्मसंयम की योजनाओं पर अमल करते समय एक क्षण के लिए भी इस तथ्य से ध्यान नहीं हटाना चाहिये कि हम सब परम तत्त्व के अंश हैं और इसलिए उसका तत्त्व स्वभाव भी हममें है, और चूंकि परमतत्त्व में भोगेच्द्दाओं की तृप्ति-जैसी कोई चीज नहीं हो सकती इसलिए अवश्य यह मानव स्वभाव से भी बाहर की चीज होनी चाहिये। यदि इस प्राथमिक तथ्य को हम भली-भाँति समझ लें तो आत्मसंयम प्राप्त कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। ठीक यही विचार गीता में भी व्यक्त हुआ है और उसे प्रतिदिन सन्ध्या-समय प्रार्थना में हम गाते हैं। आपको याद होगा कि एक श्लोक में कहा गया है कि विषयेच्छा केवल तभी समाप्त होती है जब व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है। ४९।१९२

५७

ज्ञान केवल जिज्ञासु को दिया जाता है। जिज्ञासु वह है जिसे ज्ञान की भूख है। बिना भूख के जबरदस्ती दिया ज्ञान पचता नहीं। ४९।२२४

५८

गीता तुलना करने के बदले ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का मेल साधती है। एक की पूर्ण साधना के लिए अन्य दोनों आवश्यक ही हैं। इसलिए ये तीनों अविभाज्य हैं। इन तीनों में कर्म थोड़ा विशेष बताया गया है तो वह केवल इसलिए कि उसमें भ्रम होने की कम गुंजाइश है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते'।

मैं यह मानता हूँ कि पुस्तक पढ़ते हुए पहले उसका सीधा अर्थ समझ लेना चाहिये। बाद में उस पर स्वतन्त्र रूप से मनन करना चाहिये। ४९।२४७

५९

गीता समझने के लिए यदि तू जितना चाहिए उतना ध्यान देगी तो समझने लगेगी। ४९।२७६

६०

तुम्हें उद्विग्नता त्याग देनी चाहिये। यदि हमें ईश्वर में विश्वास है तो हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये। जैसे कि विश्वासपात्र द्वारपाल या चौकीदार के होने पर हम चिन्ता नहीं

करते। ईश्वर से बढ़कर अच्छा द्वारपाल अथवा चौकीदार कौन हो सकता है? उससे कभी चूक नहीं होती।इतना ही काफी नहीं कि हम ऐसी बातों का भजन करें या उनको केवल बौद्धिक रूप से ग्रहण करें। जरूरी यह है कि हम भीतर से वैसा महसूस करें। यह महसूस करना ठीक वैसा ही है जैसे कि दर्द या आनन्द महसूस करते हैं। हमें अपने अनुभव पर तर्क से कौन हरा सकता है? मैं यह इसलिए लिख रहा हूँ कि मैं चाहता हूँ कि तुम सारी चिन्ताओं और परेशानियों से पूरी तरह मुक्त हो जाओ। ४९।२९५

६१

गीता कंठस्थ करने का अभिप्राय यह है कि वह अर्थ के साथ आनी चाहिये। और उच्चारण शुद्ध होना चाहिये। ४९।३३७

६२

गीता का नित्य पाठ नीरस लगता है, क्योंकि उसपर मनन नहीं होता। यह हमें रोज रास्ता दिखाने वाली माता है। ऐसे समझकर पढ़ोगे तो नीरस नहीं लगेगी। पाठ करने के बाद रोज एक मिनट उस पर विचार कर लिया करना। रोज कुछ न कुछ नया मिलेगा। केवल सम्पूर्ण मनुष्य को उसमें कुछ नहीं मिलेगा। किन्तु जो नित्य कुछ-न-कुछ दोष कर जाता है, उसे तो ऐसा लगेगा कि यह गीता-माता उद्धार करने वाली है और नित्य पाठ से थकेगा नहीं। ४९।४२९



मन चंचल हो तो भी प्रार्थना जारी रखो। एकान्त में बैठकर आसनबद्ध होकर विचारों का निग्रह करने पर भी अगर वे आते रहे तो भी प्रार्थना पूरी करो। मनधीरे-धीरे ठिकाने पर आ जायेगा। गीत्ता ही कहती है कि मन चंचल है, किन्तु सिखाती यह है कि उस पर धैर्य पूर्वक काबू हो जाता है। हार हम कभी नहीं मानें, जान भले ही जावे। ४९।४३०

६३

जो धर्म सहज प्राप्त हो गया है, उस को पकड़ रखना हमारा कर्तव्य है। ४९।४७९

६४

विचार भी कार्य है, इससे एक भी विचार बेकार नहीं जाता। इसलिए हमें हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिये। ४९।३१७

६५

तुम्हें व्यर्थ की चिन्ता में पड़ने से बचना चाहिये। यदि हम अपने आपको उसकी इच्छा का निमित्त-मात्र बना लें तो चिन्ता के क्षण हमारे पास फटकें ही नहीं। ४९।४५१

६६

खुशी तो एक मानसिक अवस्था है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं एक युग से कठिन जीवन का अभ्यस्त हो

चुका हूँ। इसलिए मैंने अपनी खुशी को आसपास के हालात से अलग रखना सीख लिया है। ४९।४८६

६७

'योगः कर्मसु कौशलम्' गीता का यह विचार अत्यन्त प्रौढ़ हैं 'योग अर्थात् जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ने का नाम योग है। वह कर्म-कौशल से सहज ही साधा जा सकता है, ऐसा गीता-माता ने सिखाया है। कौशल प्राप्त करने वाले व्यक्ति को अपने कर्म में तन्मय अर्थात विचारमय बनना ही चाहिये। ५०।४४६

६८

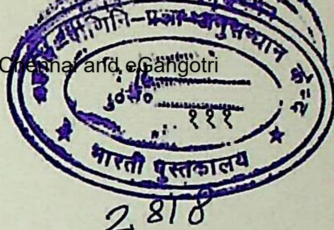
मेहनत पर हमारा अधिकार है इसलिए पूरी तरह मेहनत करके उसका परिणाम भाग्य पर छोड़ दें। गीता यहीं सिखाती है। ५१।४

६९

पत्थर की गुफा और मुर्दे जलाने का श्मशान सच्ची गुफा या श्मशान नहीं है। असली गुफा हृदय में है और श्मशान भी वहीं है। हम इस गुफा में रहकर विकार-मात्र को राख कर डालें, तब सच्चा सन्यास कहलायेगा। इसकी महिमा गीता में गाई गयी है। ५१।१९३

७०

अनासक्ति की भावना धीरे धीरे अवश्य आयेगी। सत्यादि के प्रति आसक्ति रह सकती है। ५१।१९६



७१

दीर्घकाल के आवरण एकाएक क्षीण हो जायेंगे, ऐसा मानने का कारण नहीं है वे अपना समय लेते ही हैं। इसलिए घबराना नहीं चाहिये। निराश भी नहीं होना चाहिये। प्रयत्न में शिथिल भी नहीं होना चाहिये। और परिणाम के बारे में निःशंक और निश्चित रहना चाहिये। यहीं गीता की अनासक्ति हैं। ५१।२२५

७२

परधर्म भले ही उत्तम हो, लेकिन प्रत्येक का श्रेय स्वधर्म पालन में ही है। ५१।२६२

७३

गीता के सतत अध्ययन से आपको सभी तरह की चिन्ता का त्याग सीखना चाहिये। हम सबकी फिक्र करने वाला जब ईश्वर है, तो हमें यह बोझ ढोने की क्या जरूरत है? हमारा कर्तव्य तो बस अपने हिस्से का काम करना है।

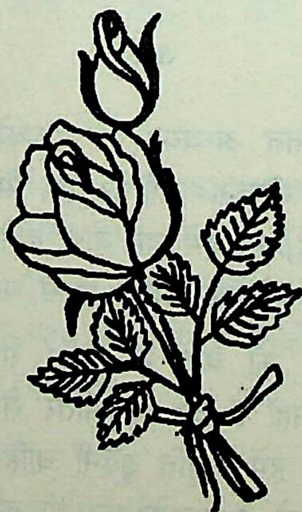
आप निवृत्ति की बात न सोचें। सच्ची निवृत्ति कोई शारीरिक स्थिति नहीं हैं वह तो भीतर से आती है। सतत् प्रवृत्ति के बीच ही हमें निवृत्ति ढूंढनी चाहिये। और जो लोग कन्दराओं में रह रहे हैं, उनके मन भी क्या प्रायः अनवरत प्रवृत्तिमय ही नहीं रहते हैं? ५१।२९३

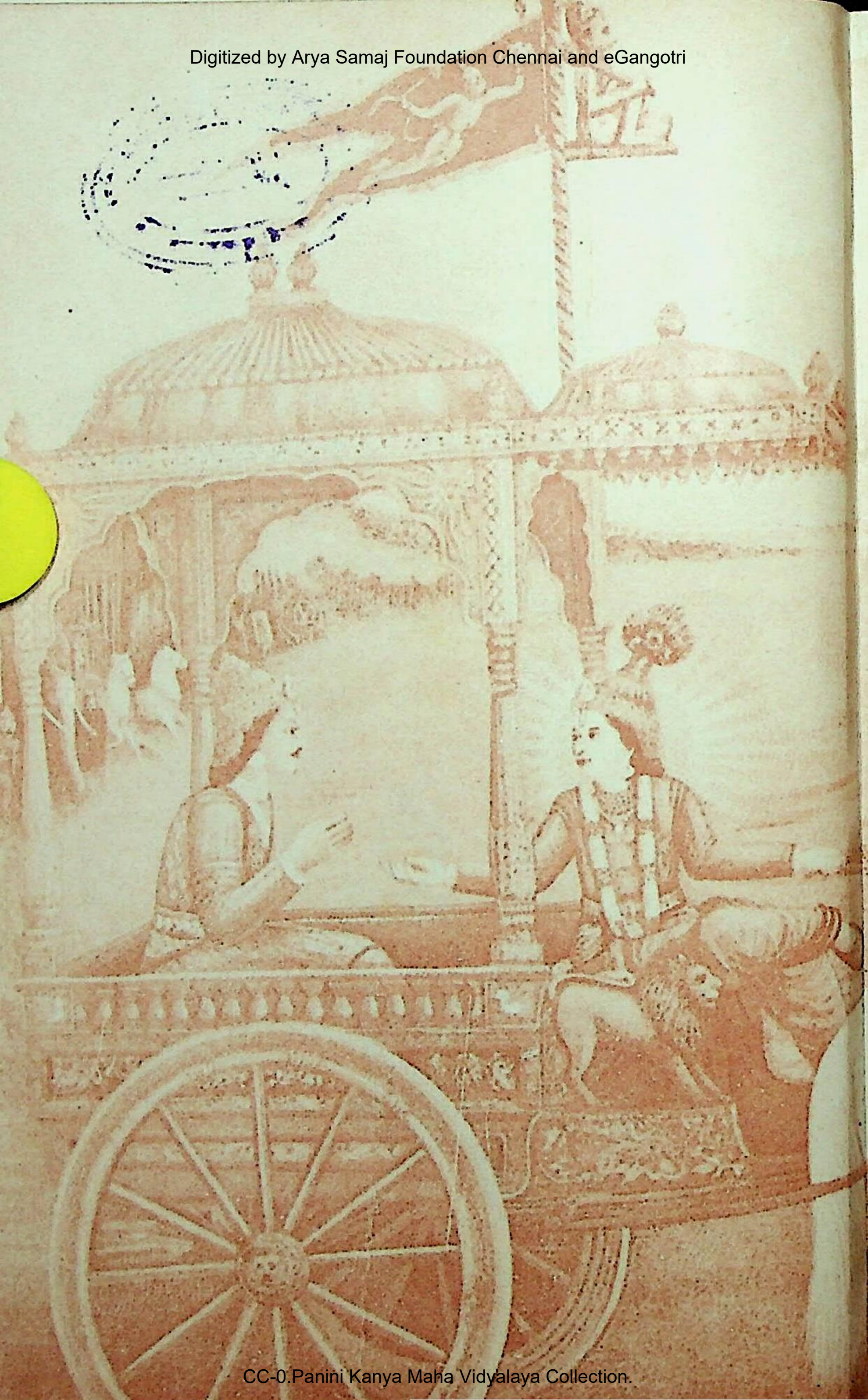
७४

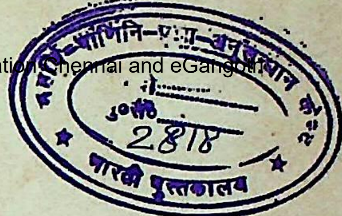
मैने कुछ किया है, ऐसा ख्याल तक मेरे मन में नहीं आता। "जो कुछ कर वह मुझे अर्पित करके मेरे लिए कर' गीता के इस वाक्य का अनुभव मैं प्रतिक्षण करता रहता हूँ और आनन्द रस के घूँट पीता रहता हूँ। ५१।१७८

७५

हम यथाशक्ति प्रयत्न ही कर सकते हैं। फल देने वाला तो ईश्वर ही है। चिन्ता-मात्र छोड़ो। चिन्ता करने की गीता-माता की मनाही है।







लेखक की प्रथम रचना **"लोकप्रिय गीता"** के बारे में सम्मति देते हुए स्व. डॉ. रोहित मेहता लिखते हैं :

गीता का सन्देश प्रधानतः कर्म का संदेश है। गीता का दर्शन वास्तविक है जैसा कि वैज्ञानिक युग चाहता है। गीता ने संन्यास और त्याग को भिन्न माना है। भगवान् ने अर्जुन को संन्यास की ओर नहीं अपितु त्याग की ओर जाने के लिए प्रेरित किया है। लोकप्रिय गीता में कर्मवाद को ही सरल भाषा में समझाया है। अनेक भाष्यकारों का उद्धरण इसके विवेचन में किया है, जिससे यह ग्रन्थ और भी समृद्ध हुआ है।

*

लेखक की द्वितीय रचना **"गीता सुधा"** के बारे में सम्मति देते हुए स्व. ठाकुर जयदेव सिंह लिखते हैं :

विश्वभर में यदि कोई ऐसा ग्रन्थ है जो समस्त जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है तो वह निःसन्देह गीता है। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का अद्भुत समन्वय है। इसका उपदेश निर्वाण और संस्कार का सन्धि-स्थल है, अन्धकारमय जीवन के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है।

यज्ञ, कर्म, भक्ति, ज्ञान, ध्यान— सबका एक व्यापक स्वरूप इसमें देखने के लिए मिलता है। इसकी व्याख्याएँ हुई हैं, और आगे भी होंगी। यह वह रत्नाकर है जिसमें जितनी ही डुबकी लगाई जाय, उतनी ही बार नए रत्न हाथ में आते हैं।